TEXT FLY WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL LIBRARY

OU_182862

UNIVERSAL LIBRARY

हित्य भवन लिमिटेड

इलाहाबाद

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H730/V34S Accession No. G.H.1816

Author वसु, नन्दलाल।

Title शिल्पकथा। 1952

This book should be returned on or before the date last marked below.

शिल्पकथा

शिल्पाचार्य नन्दलाल वसु
विश्वभारती, शान्तिनिकेतन

साहित्य भवन लिमिटेड
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : जनवरी, १९५२

मूल्य १।)

मुद्रक
राज नारायण अवस्थी
हिन्दी साहित्य प्रेस,
इलाहाबाद

शिल्पगुरु आचार्य स्व० अवनीन्द्रनाथ ठाकुर तथा
शिल्पबन्धुओं को समर्पित

शिल्पसाधना-पथ के वयः ज्येष्ठ और वयः कनिष्ठ शिल्पी बन्धुओं और शिल्प रसिकों से वार्तालाप और मन की बातों के आदान-प्रदान से इन रचनाओं की प्रेरणा मिली। भिन्न-भिन्न समयों और भिन्न-भिन्न उपलक्षों पर लिखे जाने के कारण जगह-जगह पुनरुक्ति हुई है। आशा करता हूँ, सुधीगण इस त्रुटि की मार्जना करेंगे।

ग्रंथकार

प्रकाशकीय

विज्ञान एवं दर्शन की भाँति साहित्य और कला का भी चरम लक्ष्य सत्य का साक्षात्कार करना है। अंतर केवल साधना-प्रणाली में है। कला कृत्रिम होकर भी सत्य है, क्योंकि वह अनुभूतिपरक है। उस पर मिथ्याभास का आरोप नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि उसका क्षेत्र भिन्न है। अनुभूति-शून्य व्यक्ति न तो कलाकार हो सकता है न कला से अनुप्रेरित। कला का बोध अनुभूतिप्रवण व्यक्ति को ही हो सकता है।

हिन्दी पाठकों के समक्ष युग के महान कलाकार की उत्तम कृति उपस्थित करते हुए हम गौरव अनुभव कर रहे हैं। हिन्दी में कला सम्बन्धी ऐसी पुस्तकों का अभाव है जो स्वयं कलाकार का कला सम्बन्धी दृष्टिकोण उपस्थित करती हों। अपना गुणगान सुनकर उक्त कलाकार ने मेरे सम्मुख कहा था, "गुणगान उस एकमात्र कलाकार का करना चाहिये जिसकी अद्वितीय कला से अनुप्रेरित होकर हम उसका दर्शन करना चाहते हैं।" इतना कहकर उन्होंने हाथ जोड़ते हुए अंतरिक्ष की ओर नमस्कार किया था। मैं समझता हूँ यह संकेत पर्याप्त है।

प्रस्तुत पुस्तक को उपस्थित करने में अग्रजतुल्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी और बन्धुवर श्री मोहनलाल बाजपेयी द्वारा वांछनीय सहयोग एवं सहायता मिली है। परन्तु, यदि श्री महादेव साहा ने ठीक समय पर अनुवाद करके हमारी सहायता न की होती तो हम इसे कदाचित् इतनी जल्दी प्रकाशित नहीं कर पाते। श्री पुलिनविहारी सेन, प्रकाशन-विभाग, विश्वभारती के हम अनुगृहीत हैं जिन्होंने हमें यह हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने की स्वीकृति प्रदान की।

नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

प्रकाशनाध्यक्ष

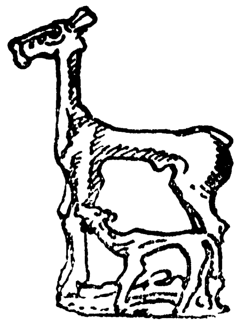

ब्रोंज की गुड़िया

क्रीट द्वीप

सूचीपत्र

प्रकाशकीय	
आशीर्वाद	
नन्दलाल वसु	
भूमिका	
शिक्षा में शिल्प का स्थान	१-६
शिल्पसाधना	७-१३
शिल्प-परिचय	१४-१६
शिल्प में शरीररचनाविद्या का प्रयोग	१७-२८
छंद	२९-३०
शिल्पसर्जना का मूलसूत्र	३१-३३
शिल्प प्रसंग	३४-३७
शिल्प संगति	३८-३९
शिल्प दृष्टि	४०-५२
रचना परिचय	५३

१. बुद्धमूर्ति । छान्दसिक : स्वगत छन्द में

२. नटराज । छान्दसिक : स्वगत छन्द में

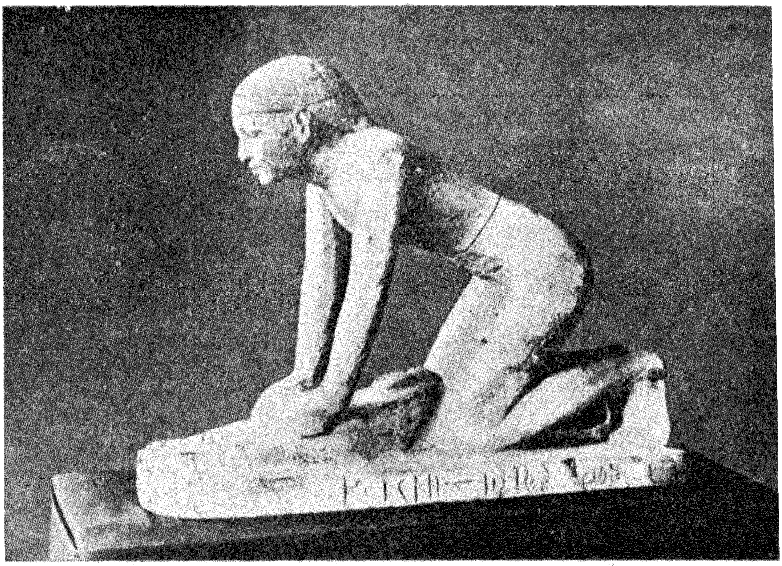

३. मिश्री :
व्यंजक : उनकृत

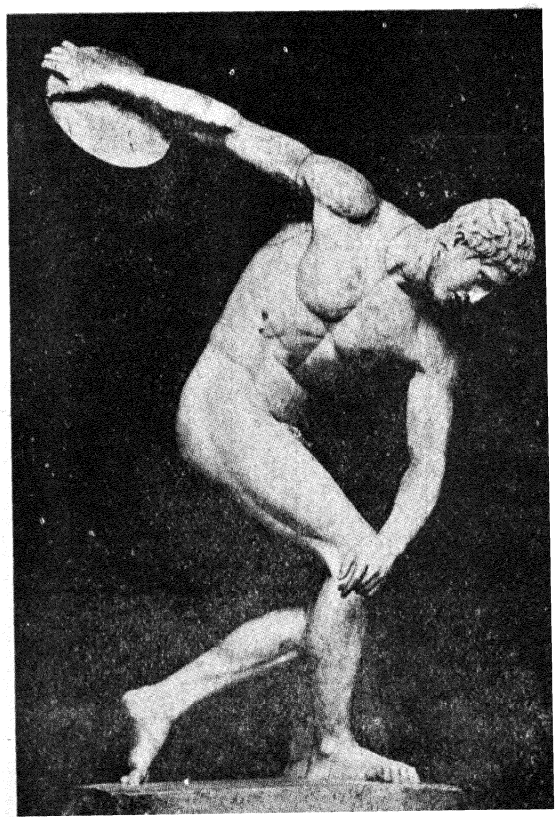

४. ग्रीक-रोमन :
अनुकारक

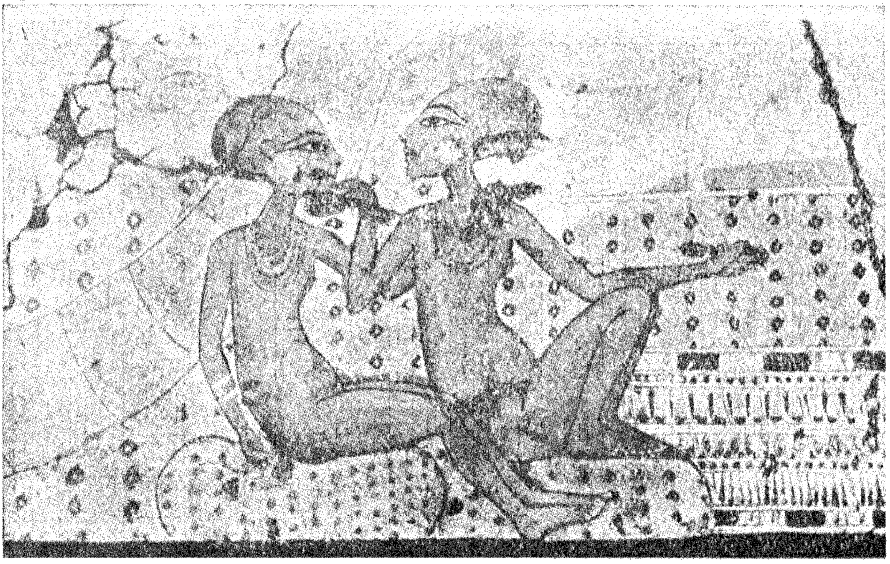

५. मिश्री भित्तिचित्र व्यंजक : उनकृत

६. अजन्ता गुफ़ा का चित्र । छान्दसिक : श्रेणीगत छन्द में

७. युरोपीय । अनुकारक

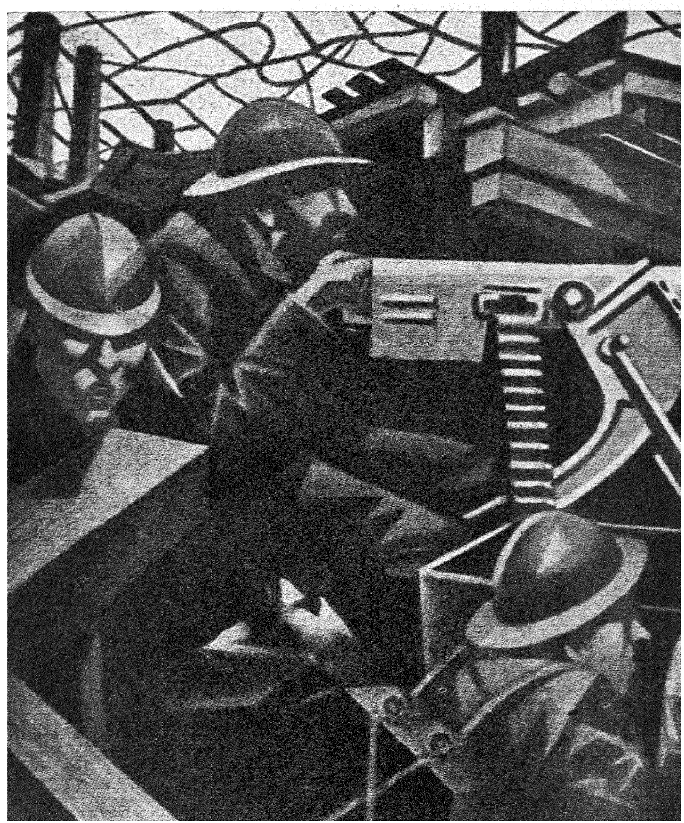

८. युरोपीय । छान्दसिक : श्रेणीगत छन्द में

९. चीनी० व्यंजक० उनकृत

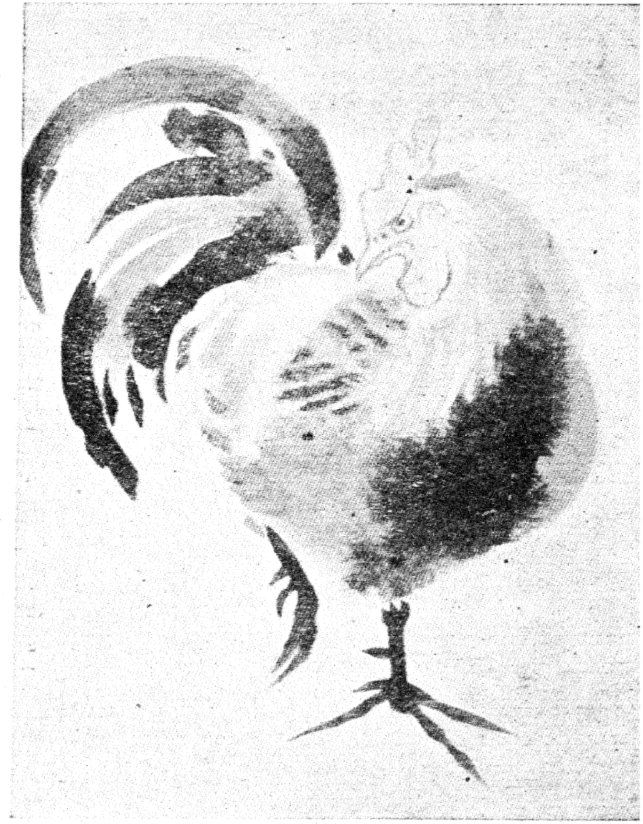

१०. जापानी । व्यंजक

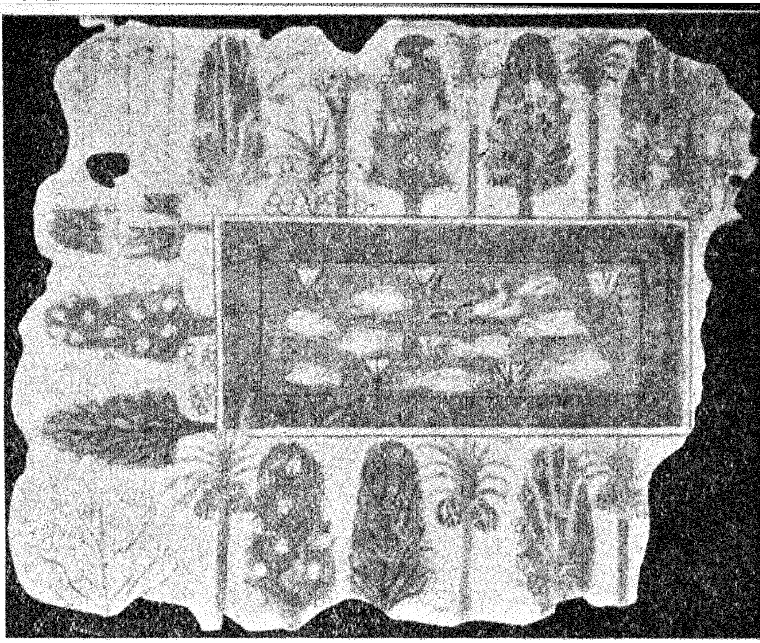

११. मिश्री भित्तिचित्र । छान्दसिक : अंगांगत छन्द में

१२. विलायती सुई का काम । अलंकरण : साधारण छन्द में

चित्रपरिचय

(१) गया की बुद्धमूर्त्ति , ईसा की आठवीं शताब्दी ।
(२) दक्षिणभारतीय नटराज । धातुमूर्ति, ईसा की दशवीं शताब्दी ।
(३) मिस्र की मूर्ति । ई० पूर्व २६५० ।
(४) शिल्पी माइनर (ई० पूर्व ५००-४४०)—कृत ग्रीक मूर्ति की रोमन प्रतिमूर्ति ।
(५) मिस्र के भित्तिचित्र अठरहवाँ राजवंश ।
(६) अजन्ता । सोलहवीं गुफा का भित्तिचित्र, ईसा की पाँचवीं शताब्दी ।
(७) यूरोपीय, फ्लेमिश । शिल्पी पिटर पॅल रूबेन्स् (१५७७-१६४० ई०)।
(८) आधुनिक इङ्गलिश, शिल्पी सी० आर० डब्ल्यू० नेविनसन् ।
(९) चीनी । शिल्पी सम्राट् हुइ-त्सुंग । ईसा की बारहवीं शताब्दी ।
(१०) जापानी । शिल्पी यासु नोबु, कानो शिल्पगोष्ठी, १६२०-८५ ई० ।
(११) मिस्र के भित्तिचित्र । अठारहवाँ राजवंश अनुमान, ई० पूर्व १४०० ।
(१२) विलायती सुई का काम । एलिज़ाबेथीय, १५५८-१६०३ ई० ।

रेखाचित्र ग्रंथकार द्वारा अंकित ।

१९ पृष्ठ का चित्र एक मिस्री शोकचित्र का अनुकरण है ।

२०-२१ पृष्ठ के दोनों चित्रों में उसका विश्लेषण दिखाया गया है ।

२२-२३ पृष्ठ का चित्र एक सिंहली कारू कार्य का अनुकरण है ।

२० पृष्ठ का अन्यतम चित्र उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रान्त में मिले लकड़-बग्घा-खिलौने का है ।

उँ शिल्पानि शंसन्ति देव शिल्पानि ।
एतेषां वै शिल्पानामनुकृतिरिह शिल्पमधिगम्यते ।
आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि,
छन्दोमयं वा एतैर्यजमान आत्मनं संस्कुरुते ।

ऐतरेय ब्राह्मण

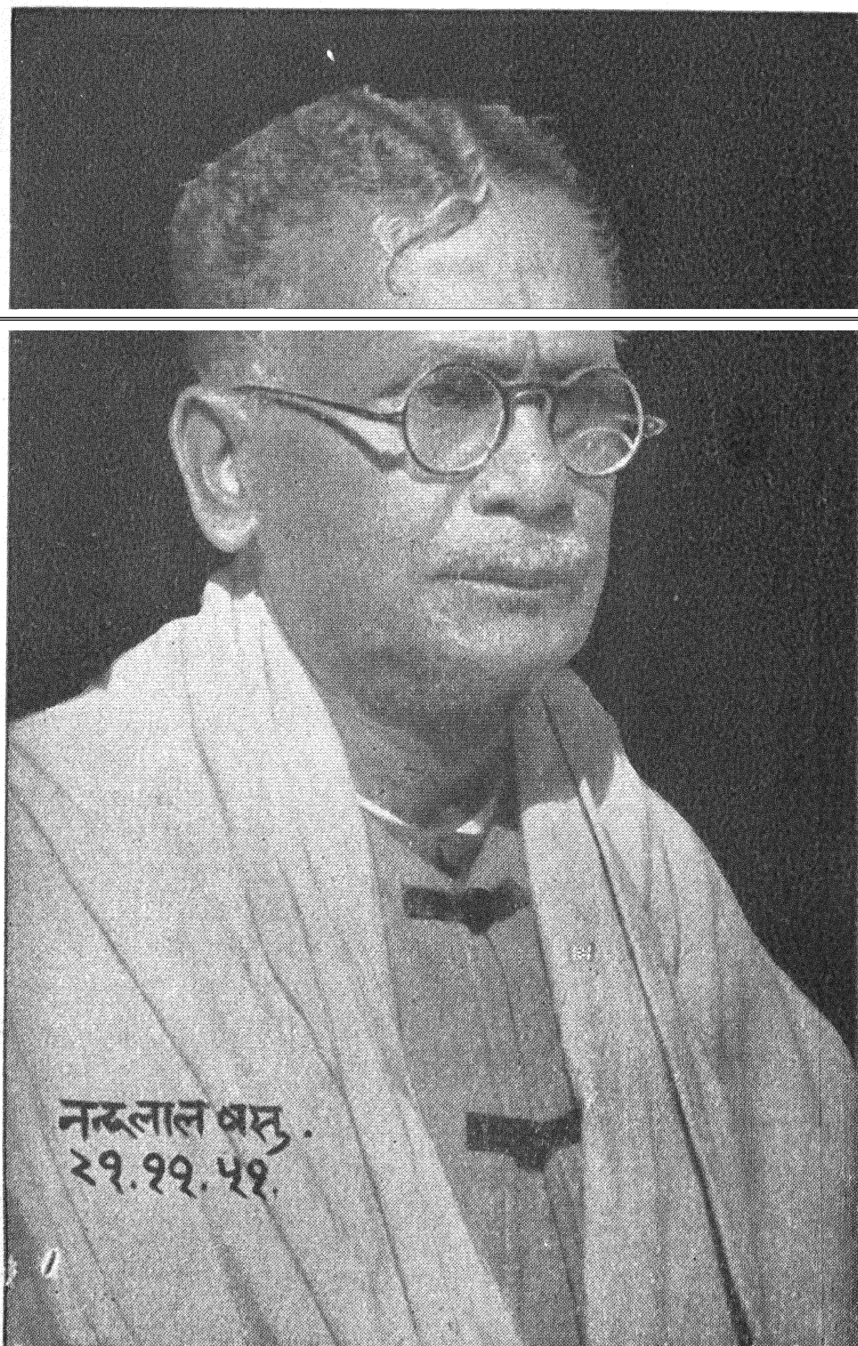

मास्टर मशाय

आशीर्वाद

**पचास वर्ष के किशोर गुणी नन्दलाल वसु के प्रति*
*सत्तर वर्ष के वृद्ध युवा रवीन्द्रनाथ का आशीर्वाद**

नन्दनवन के कुञ्जतले रञ्जना की धारा बह रही है:
जन्म से पूर्व उसी के जल में तुम्हारा स्नान समापन हो चुका था।

न जाने किस मधु-यामिनी में
कोई तुम्हारी पलकों में अञ्जन लगा गया:
तभी तो तुम्हारी आँखों के तारों ने ऐसी सृजनदृष्टि पाई है।
तुम्हारे जन्म की थाली अमर फूलों का उपहार—
रूप के लीलामय लेखों से भरपूर पारिजात की डलिया सजाकर लाई है।

अप्सराओं के नृत्य
तुम्हारी तूली की नोक पर नाच उठे हैं
रेखाओं की बंसी तुम्हारे अंकन का संस्पर्श पाकर स्वर से बज उठी है ॥

जो मायाविनी असीम देश-काल के पट पर
कभी हरे, कभी नीले अथवा कभी लाल रंगों से
चौक पूरती या पूटकर मिटा देती है,
अथवा कभी सन्ध्याकाश के मलिन मेघों में
अपना रङ्गीन उपहास बिखेर देती है,
उसी मायाविनी ने अपनी रंग जगानेवाली सुवर्णमयी
जादूभरी लकुटी से तुम्हारा भाल छू दिया है,
विश्व तुम्हारे निकट न जाने कितने इशारे भेजा करता है और तम भी उसके समीप अपने मनचाहे न जाने कितने सङ्केत भेजा करते हो।

विधाता के साथ न जाने किस छल-कौशल से
गुपचुप तुम्हारी बातचीत हुआ करती है :
क्या ऐसे अविरत इशारों का ही दूसरा नाम सृष्टि है ?
अपने चित्र पर तुमने रवि का वराभय पाया है,
धूप छाया की चञ्चल माया को तुमने जीत लिया है।
तुम्हारे अङ्कन-पट-पर मैं जानता हूँ—
नटराज की जटाओं की रेखा सदा के लिये अंकित होकर रह जाती है ॥
जो चिर-बालक विश्वछवि आँककर खेला करता है,
तुम उसीके समवयस्क होकर मिट्टी के खेल-घर में खेला करते हो।
तुम्हारी इस तरुणाई को वयस क्या कभी ढक सकती है ?
अपने खेल के बेड़े पर अपने प्राणों को तुम असीम की ओर बहाया करते हो ॥
आज तुम्हारा ही खेल खेलने के लिये कवि पागल हो उठा है;
नवीन आलोक में नवीन शिशु-जन्म होने जा रहा है।
उसके भाव भाषा में डूबे हैं—
उसकी मुक्त दृष्टि को विश्वशोभा के दर्शन करा दो;
उसका मन आज तुम्हारी ही राह पर बरबस दौड़ा जा रहा है ॥

अनुवादकः श्री मोहनलाल बाजपेयी, शान्तिनिकेतन

नन्दलाल वसु

[रवीन्द्रनाथ ठाकुर]

स्पिनोजा तत्त्वज्ञानी थे, उनके तत्त्वविचार को उनके व्यक्तिगत परिचय से अलग करके देखा जा सकता है। लेकिन अगर मिलाकर देखना संभव है तो उनकी रचना हमारे निकट उज्ज्वल हो उठती है। प्रथम वयस में ही समाज ने उन्हें निर्ममरूप से त्याग कर दिया, पर कठिन दुःख में भी सत्य का उन्होंने त्याग नहीं किया। उन्होंने सारा जीवन कुछ ही पैसों से काटे; फ्रांस के राजा चौदहवें लुई ने उन्हें मोटी रकम पेंशन में देनी चाही थी, शर्त यह थी कि वह अपनी एक पुस्तक राजा के नाम उत्सर्ग करेंगे। स्पिनोजा सहमत नहीं हुए। उनके किसी मित्र ने मरते समय अपनी सम्पत्ति उनके नाम वसीयत कर दी, उस सम्पत्ति को उन्होंने न लेकर दाता के भाई को दे दिया। वह तत्त्वज्ञानी थे और वह मनुष्य थे इन दोनों को एक करके देखने पर उनकी सत्य-साधना का यथार्थ स्वरूप मिल जाता है। समझ में आ जाता है कि केवल तर्कबुद्धि से यह उत्पन्न नहीं हुआ था, अपने सम्पूर्ण स्वभाव से उन्होंने इसकी उपलब्धि की थी, प्रकट किया था।

शिल्प कला में, रससाहित्य में मनुष्य के स्वभाव और उसकी रचना का सम्बन्ध शायद और भी घनिष्ठ है। सर्वदा उन्हें एकत्र देखने का अवसर नहीं मिलता। यदि मिलता है तो उनके कर्म की अकृत्रिम सत्यता के सम्बन्ध में हमारी धारणा स्पष्ट हो सकती है। स्वभाव-कवि को, स्वभाव-शिल्पी को हम केवल उनकी रचनाओं में देखते हैं, उनके हाथों के कामों में देखते हैं; ऐसा नहीं, वे दिखाई पड़ते हैं अपने व्यवहार में, अपने दैनिक जीवन में, अपने जीवन की प्रतिदिन की भाषा और भंगिमा में।

चित्र शिल्पी नन्दलाल वसु का नाम हमारे देश के बहुतेरे लोगों को मालूम है। निस्संदेह अपनी-अपनी रुचि, तबियत, शिक्षा और प्रथागत अभ्यास के अनुसार उनके चित्रों की आलोचना कई कितने ही प्रकार से किया करते हैं। ऐसे क्षेत्र में मत की एकता कभी सत्य नहीं हो सकती, वस्तुतः

प्रतिकूलता ही बहुधा श्रेष्ठता का प्रमाण बन जाती है। लेकिन निकट रहकर नाना परिस्थितियों में उन्हें अच्छी तरह जानने का सुअवसर मुझे मिला है। इस सुअवसर में जो मनुष्य चित्र बनाता है उससे सम्पूर्ण रूप से श्रद्धा करने के कारण ही उनके चित्रों को भी श्रद्धा के साथ ग्रहण कर सका। इस श्रद्धा से जो दृष्टि शक्ति मिलती है वही दृष्टि प्रत्यक्ष की गहराई में प्रवेश करती है।

नन्दलाल को साथ लेकर एक समय चीन, जापान घूमने गया था। मेरे साथ मेरे अंगरेज मित्र एल्महर्स्ट थे। उन्होंने कहा था कि नन्दलाल का संग एक शिक्षा (एडूकेशन) है। उनका यह कथन सोलहो आने यथार्थ है। नन्दलाल की शिल्प दृष्टि अत्यन्त शुद्ध है, उनकी चिन्ता-शक्ति अन्तदर्शी है। कुछ ऐसे लोग हैं जो कला को कृत्रिम श्रेणी में सीमाबद्ध करके न देख पाने से दिशाज्ञान शून्य हो जाते हैं। इस तरह से देखना लँगड़े की तरह लाठी लेकर चलने के बराबर है, एक बंधे हुए बाहरी आदर्श के सहारे प्रमाणों को मिलाकर विचार करना है। इस तरह की परीक्षण-प्रणाली संग्रहालय के सजाने के काम में आती है। जो चीज़ मर गई है उसकी सीमा मिलती है, उसके सारे परिचयों को अंत तक एकत्र किया जा सकता है। इसीलिए विशेष प्रकार की मुहर लगाकर उसे खानों में विभक्त किया जा सकता है। लेकिन जो कला अतीत के इतिहास के स्मृति भाण्डार का निश्चल पदार्थ नहीं है, सजीव वर्त्तमान से जिसका गहरा सम्बन्ध है, उसकी प्रवणता भविष्य की दिशा में होती है। वह चल रहा है, आगे बढ़ रहा है, उसकी संभूति समाप्त नहीं हुई है, उसकी सत्ता के पक्के दस्तावेज में अंतिम स्वाक्षर नहीं हुआ है। कला के राज्य में जो लोग सनातनी दल के हैं वे मृत के लक्षणों को मिलाकर जीवितों के लिए श्रेणी विभाजन की वातायनहीन कब्र तैयार करते हैं। नन्दलाल उस कोटि के आदमी नहीं हैं, कला उनके लिए सजीव वस्तु है। उसे वह स्पर्श से, दृष्टि से, सहानुभूति से अनुभव करते हैं, इसीलिए ही उनका संग शिक्षा (एडूकेशन) है। जिन्हें छात्र रूप में उनके पास आने का अवसर मिला है उन्हें मैं भाग्यवान समझता हूँ—उनका ऐसा कोई भी विद्यार्थी नहीं है जिसने इस बात का अनुभव न किया हो और जो इसे स्वीकार नहीं करता। इस सम्बन्ध में

उन्होंने अपने गुरु अवनीन्द्रनाथ की प्रेरणा अपने स्वभाव से सहज ह पाई है। छात्र की अन्तर्निहित शक्ति को बाहर के किसी सनातन सांचे में वह ढालने की चेष्टा वह कभी भी नहीं करते हैं; उस शक्ति को उसीके रास्ते मुक्त करना चाहते हैं और उसमें वह कृतकार्य होते हैं क्योंकि उनके अपने अन्दर ही वह मुक्ति है।

कुछ दिन हुए, नन्दलाल ने बम्बई में अपने वर्त्तमान छात्रों की एक प्रदर्शनी खोली थी। सभी को मालूम है कि वह एक स्कूल आफ आर्ट्स (कला विद्यालय) है और इस बात को शायद बहुतेरे जानते हैं कि उस स्कूल के अनुगामी हमारे इधर के चित्रों के प्रति अवज्ञा प्रकट करते हुए लिखते आ रहे हैं। उनकी शिकायत यह है कि अपने शिल्प सृजन में हम लोगों ने एक पुराने तरह की भंगिमा का निर्माण किया है, जो केवल सस्ते में आंखों को लुभाने का ढंग है, वास्तविक संसार का प्राणवैचित्रता उसमें नहीं है। हम लोगों ने लिखित रूप से कोई प्रतिवाद नहीं किया है,—चित्र दिखाए गए। अब तक वे जो कुछ कह प्रतिवाद करते आ रहे थे, उसके सम्पूर्ण विरुद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण देख लिया। विचित्र चित्र देखा, उसमें विचित्र अभिव्यक्ति देखी, विचित्र हाथों से, उसमें न तो पुराने की अनुकृति थी और न आधुनिक की ही। इसके अतिरिक्त किसी भी चित्र में चालू बाजार दर के प्रति लक्ष्य मात्र तक नहीं था।

जिस नदी में धार कम होती है वह सिवार के व्यूह जमा कर लेती है, उसका आगे का पथ रुद्ध हो जाता है। ऐसे बहुतेरे शिल्पी साहित्यिक हैं जो अपने अभ्यास और मुद्रा-भंगिमा के द्वारा अपनी अचल सीमा बना लेते हैं। उनके काम में प्रशंसा के योग्य गुण हो सकते हैं मगर वे मोड़ नहीं घूमते, आगे बढ़ना नहीं चाहते, निरन्तर अपनी अनुकृति स्वयं ही करते रहते हैं, अपने ही किए कामों से निरन्तर चोरी करते रहते हैं।

मैं जानता हूँ कि अपनी प्रतिभा यात्रापथ में अभ्यास की जड़ता के द्वारा इस सीमा-बंधन को नन्दलाल कभी भी सहन नहीं कर पाते हैं। उनके अन्दर कितने ही दिनों से देखता आ रहा हूँ। यह विद्रोह सर्वत्र ही सृजन-शक्ति के अन्तर्गत है। यथार्थ सृजन पिटे-पिटाए रास्ते पर नहीं चलती है, प्रलय शक्ति निरन्तर उसके लिए रास्ता बनाती रहती है। सृजनकार्य में

जीवनीशक्ति को यह चंचलता नन्दलाल में प्रकृति सिद्ध है। किसी अड्डे पर पहुँचकर आगे नहीं बढ़ना, कुर्सी पर बैठे पैर हिलाना, उनकी भाग्यलिपि में नहीं लिखा है। उनके लिए अगर यह संभव होता तो बाजार में उनकी दूकानदारी जम जाती। बंधे हुए खरीददारों की विचारबुद्धि अचल शक्ति के खूँटे से बंधी रहती है। उनकी मूल्यांकन प्रणाली अभ्यस्त आदर्श से मिलाकर होती है। अपनी रुचि को उस आदर्श के बाहर छोड़ने में वे भय खाते हैं, उनके अच्छे लगने का परिमाण जनश्रुति के परिमाण का अनुचरी होती है। कलाकार के काम के सम्बन्ध में जनसाधारण को अच्छा लगने के अभ्यास को जम उठने में समय लगता है। एक बार जम जाने पर उस धारा का अनुवर्त्तन करने से कलाकार के लिए खतरा नहीं रहता। लेकिन जो आत्मविद्रोही शिल्पी अपनी तूलिका के अभ्यास को क्षण भर तोड़ता रहता है और कुछ भी क्यों न हो हाट-बाजार में उसे बारम्बार धोखा खाना पड़ेगा। फिर भी बाजार में धोखा खाना अच्छा है, अपने आपको धोखा देना तो अच्छा नहीं है। मैं निश्चित रूप से जानता हूँ कि नन्दलाल इसी अपने को धोखा देने से घृणा करते हैं, उससे अगर उन्हें हानि होती है तो भले ही हो, अमुक पुस्तक वा अमुक चित्र तक लेखक वा शिल्पी का उत्कर्ष सीमित है— बाजार में इस तरह की अफवाह बीच-बीच में सुनाई पड़ती है, बहुधा उसका अर्थ यह होता है कि लोगों के अभ्यस्त हिस्से में विघ्न उत्पन्न हुआ है। जन साधारण का, अभ्यास का बँधा हुआ आयोजनकारी बनने का लोभ संवरण न कर पाने से उस लोभ से पाप, और उस पाप से मृत्यु होती है। और कुछ क्यों न हो उस पाप और लोभ की आशंका नन्दलाल के लिए बिल्कुल ही नहीं है। उनकी तूलिका अपने अतीत का अतिक्रमण करके चलनेवाली यात्रिनी है। विश्वसृष्टि की यात्रा पथ तो उसी दिशा में है, उसका अभिसार अनन्त का आह्वान है।

कलाकार के स्वकीय आभिजात्य का परिचय उसके चित्र में उसके जीवन में मिलता है, हमें नन्दलाल के स्वभाव में बारम्बार इसके प्रमाण मिलते हैं। पहिले ही कला के प्रति उनकी सम्पूर्ण लोभहीननिष्ठा दिखाई पड़ती है। अगर उनकी आकांक्षा विषयबुद्धि की ओर दौड़ती तो उस दिशा

में उनकी दशा की उन्नति के लिए यथेष्ट सुयोग थे। प्रतिभा के सच्चे मूल्यांकन के परीक्षक इन्द्रदेव शिल्प साधकों की तपस्या के सम्मुख रजत नुपूर निक्कण का मोहजाल फैलाए रहते हैं, सरस्वती का प्रसाद स्पर्श उसे लोभ से बचाता है, देवी अर्थ के बंधन से उद्धार करके सार्थकता का मुक्ति वर देती हैं। नन्दलाल उसी मुक्तलोक में विराजते हैं, उन्हें डर नहीं।

उनके स्वाभाविक अभिजात्य का एक और लक्षण दिखाई पड़ता है उनके अविचलित धीरज में। बंधु के मुंह की अन्याय निन्दा से भी उनकी प्रसन्नता को आँच नहीं लगी इसका दृष्टान्त उन्होंने देखा है, जो लोग उन्हें जानते हैं। ऐसी घटना से उन्हीं को दुःख हुआ है, लेकिन उन्होंने सहज ही क्षमा कर दिया। इससे उनके अन्तर का सिद्ध होता है, उनका हृदय दरिद्र नहीं है। अपने समान साधकों में किसी के प्रति ईर्ष्या का अभ्यास मात्र उनके व्यवहार में प्रकट नहीं हुआ है। जिसका जो पावना है उसे चुकता कर देने से अपने यश में कमी पड़ने की आशंका ने कभी उन्हें छोटा नहीं होने दिया है। अपने और दूसरों के सम्बन्ध में वह सच्चे हैं; अपने को नहीं ठगते और और दूसरों को भी वंचित नहीं करते। इससे देखा है जैसे अपनी रचना में, और अपने स्वभाव में भी वह उसी तरह शिल्पी हैं, क्षुद्रता की त्रुटि स्वभावतः कहीं नहीं रखना चाहते हैं।

शिल्पी और मनुष्य को एक साथ मिलाकर मैंने नन्दलाल को निकट से देखा है। बुद्धि, हृदय, निपुणता, अनुभव और अन्तःदृष्टि का ऐसा समावेश कदाचित् ही देखने में आता है। उनके छात्र, जो उनके निकट शिक्षा पा रहे हैं, वे इस बात का अनुभव करते हैं और उनके जो मित्र हैं वे प्रतिदिन संसार के छोटे-बड़े नाना व्यापारों में देखते हैं कि वे उनकी उदारता और चित्र की गंभीरता से उनके प्रति आकृष्ट हैं। अपनी और उनकी ओर से इस बात को कहने की आकांक्षा मेरी इस रचना में प्रकट हुई है। इस प्रकार की प्रशंसा की वे कोई परवाह नहीं करते हैं। मगर मैं अपने मन में इसकी प्रेरणा का अनुभव करता हूँ।

भूमिका

मैं साहित्यिक नहीं हूँ। भाषा का शिल्प मैं नहीं जानता। अतएव विस्तारपूर्वक समझा-बुझाकर कुछ कहूँ, मुझ में यह शक्ति नहीं।

आज संसार में जो दुर्दैव (दुर्भाग्य) दिखाई पड़ रहा है उसका कारण है मनुष्य की देहबुद्धि और स्वार्थबुद्धि की प्रबलता। अर्थनीतिक वा राजनीतिक उपाय से उसका जो भी सामयिक प्रतिकार संभव हो, स्थायी और गंभीर है— केवल जीवनधारण और स्वार्थसाधन इन दोनों से परे अगर कोई प्रेरणा मनुष्य में हो तो उसी के अनुशीलन, उसीकी साधन में।

साहित्य और शिल्प उसी कोटि की वस्तु हैं। इससे मनुष्य की चित्त-वृत्ति का सुधार होता है; व्यष्टि और समष्टि के जीवन में छन्द, सुर और सामंजस्य उसी की देन है।

आज के युग में ही साहित्य और शिल्प पर हमें विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। कितने ही लोग सोचते हैं कि जब सारे देश में इतना दुःख है, सारे संसार में इतना पाप है तो साहित्य वा शिल्प-चर्चा के लिए अवकाश कहाँ—उसका औचित्य कहाँ है। यह बात गलत है। कारण, साहित्य और शिल्प का अनुशीलन तो विलास नहीं है, स्वप्न प्रयाण नहीं है, पलायनवादी मनोवृत्ति का छल नहीं है। हाँ, अगर हम सत्यदृष्टि लेकर साहित्य और शिल्प को देखें, उसकी चर्चा करें तब।

स्वार्थ और अज्ञान के घने अंधकार में भी हम अन्तःकरण में जिस आलोक को देखते हैं साहित्य और शिल्प उसीकी घटाएँ हैं; उससे बाहर का अंधकार दूर हो सकता है, दुःख भले ही न दूर हो दुःख का कारण दूर हो सकता है। इस में केवल सजग साधकोचित मनोभाव चाहिए, एकाग्रता और सत्यनिष्ठा चाहिए। ठीक भाव से स्वधर्म का अनुसरण करने से ही साहित्यिक और शिल्पी समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन कर देते हैं।

शिल्प कथा

शिक्षा में शिल्प का स्थान

मनुष्य ने आनन्द पाने और ज्ञान अनुशीलन के लिए जितने प्रकार के उपायों का उद्भावन किया है, उनमें भाषा एक प्रधान स्थान अधिकार किये हुए है। साहित्य, दर्शन, विज्ञान आदि की चर्चा भाषा को वाहन बनाकर ही चल रही है। साहित्य मनुष्य को आनन्द देता है। लेकिन उसकी अभिव्यक्ति का क्षेत्र सीमाबद्ध है। उसके उस अभाव की पूर्ति रूप शिल्प, संगीत, नृत्य तथा दूसरी कलाओं ने की है। जैसे साहित्य की एक निजस्व प्रकाश-भंगिमा है उसी प्रकार रूप शिल्प, संगीत नृत्य का भी है। मनुष्य इन्द्रियों से, मन से, बाहरी संसार की वस्तुओं का तत्त्वबोध एवं रसबोध करता है और शिल्प में उसे दूसरों के सामने प्रकट करता है। शिक्षा के क्षेत्र में शिल्प की चर्चा द्वारा मनुष्य के तत्त्वबोध एवं रसबोध का उत्कर्ष साधित होता है और शिल्प की प्रकाश भंगिमा भी आयत्त होती है। आंखों का काम जिस प्रकार कानों से नहीं होता उसी प्रकार चित्र, संगीत और नृत्य की शिक्षा केवल लिखाई-पढ़ाई से संभव नहीं है।

हमारे शिक्षादान का आदर्श अगर सर्वांगीण शिक्षादान है तो कला की चर्चा का स्थान और मान विद्यालयों में पढ़ाई के साथ ही बराबर रहना चाहिए। इस देश के विश्वविद्यालयों में इस दिशा में अब तक जो कुछ व्यवस्था हुई है वह कदापि पर्याप्त नहीं। मुझे लगता है कि इसका कारण हम में बहुतों का यह विश्वास है कि शिल्प चर्चा कुछ व्यवसायी शिल्पियों के ही एकाधिकार का मामला है, साधारण लोगों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। शिल्प को न समझने के लिए बहुतेरे शिक्षित लोग भी अगौरव का अनुभव नहीं करते हैं

और जनता की बात तो अलग रही, वह फोटो और चित्र के अन्तर को भी नहीं समझती है। जापानी गुड्डे-खिलौने को शिल्प का श्रेष्ठ निदर्शन समझकर वह आश्चर्यचकित रह जाता है। खराब रंगे लाल नीले बैंगनी जर्मन रैपर देखने में आंखों को पीड़ा पहुंचना तो दूर रहा बल्कि उसका उपभोग ही करता है; आसानी से मिलनेवाली सस्ते मिट्टी के घड़े की जगह ज़रूरत की दोहाई देकर टीन के कनस्तर का व्यवहार करता है। इसके लिए जिम्मेदार है देश का शिक्षित समाज और प्रधानतः विश्वविद्यालय। दृष्टिपात करने पर विद्या के क्षेत्र में देशवासियों की संस्कृति के बढ़ने का जैसा भान होता है, रसबोध का दैन्य भी उसी तरह क्रमशः पीड़ादायक होता जा रहा है। इसके प्रतिकार का उपाय है तथाकथित शिक्षित-समाज में व्यापक रूप से कला की शिक्षा का प्रचलन करना; क्योंकि, यही शिक्षित समाज जनता का आदर्श है।

सौंदर्यबोध के अभाव से मनुष्य केवल रस के क्षेत्र में ही वंचित नहीं होता, अपने मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी वह क्षतिग्रस्त होता है। सौंदर्यबोध की कमी के कारण जो लोग घर के आंगन और कमरों में कूड़ा जमा कर रखते हैं, अपने शरीर और कपड़ों की मैल साफ नहीं करते हैं, घर की दीवार एवं रेलगाड़ियों में पान का पिक और थूक फेंकते हैं, वे केवल अपने ही स्वास्थ को क्षति नहीं पहुँचाते बल्कि राष्ट्रीय स्वास्थ को भी क्षति पहुँचाते हैं। वे जिस तरह समाज के शरीर में नाना प्रकार के रोग फैलाते हैं, उसी तरह अपने कुत्सित आचरण के बुरे-आदर्श को भी जनता में फैला देते हैं।

हमारे बीच कुछ ऐसे लोग हैं जो कला की चर्चा पर विलासी और धनी व्यक्तियों का एक मात्र अधिकार मानकर उसे दैनन्दिन जीवन-यात्रा से अवज्ञा के साथ निर्वासित कर रखना चाहते हैं। वे भूल जाते हैं कि सुषमा ही शिल्प का प्राण है, अर्थमूल्य से शिल्पवस्तु का विचार नहीं हो सकता। गरीब संताल अपने मिट्टी के घर को लीपकर मिट्टी के बर्त्तनों और फटी गुदड़ियों को सँभालकर रखता है। और, कालिज में पढ़े कितने ही शिक्षित लड़के प्रासादोपम होस्टलों वा मेसों के कमरों में कीमती कपड़ों तथा सामानों को इधर-उधर बिखेरकर-अशोभन बनाए रहते हैं। यहाँ दरिद्र संताल का सौंदर्यबोध उसकी जीवन

यात्रा के अंगीभूत और सजीव है धनी संतान का सौंदर्यबोध दिखावटी और निर्जीव है। शिल्प-उपासना के नाम पर कैलेण्डर की मेमसाहिबा का चित्र फ्रेम में बँधाकर शिक्षित व्यक्ति के घर में वास्तविक अच्छे चित्र के बगल में लटकाया गया है, यह भी देखता हूँ। विद्यार्थियों में देखता हूँ चित्र के फ्रेम से कुर्त्ता टँगा हुआ है—पढ़ने की मेज पर चाय का प्याला, आईना, कंघी और कोको के टिन में कागज के फूल सजाए हुए हैं। वेशविन्यास में धोती पर खुले गले का कोट, साड़ी के साथ मेमसाहबी खुरवाला जूता — इस तरह सर्वत्र सुषमा का अभाव है, हमारे पास धन हो वा न हो, यह सौंदर्यबोध का दैन्य सूचित करता है।

अन्य कुछ लोग हैं जो कहते हैं 'कला से क्या पेट भरेगा।' यहाँ एक बात याद रखनी चाहिए। जिस प्रकार भाषा-चर्चा के दो पक्ष हैं—एक आनन्द तथा ज्ञान का पक्ष, और दूसरा धनप्राप्ति का पक्ष, उसी प्रकार शिल्प-चर्चा के भी दो पक्ष हैं—एक आनन्द देता है, और दूसरा धन देता है। इन दोनों भागों का नाम चारुशिल्प और कारुशिल्प है। चारुशिल्प की चर्चा हमारे दैनन्दिन दुःखद्वन्द्व से संकुचित मन को आनन्दलोक में मुक्ति देता है, और कारुशिल्प हमारे नित्य-प्रयोजन की वस्तुओं को सौंदर्य के सुनहरे स्पर्श द्वारा न केवल हमारी जीवन-यात्रा-पथ को सुन्दर बना देता है बल्कि अर्थागम के लिए भी रास्ता बना देता है। कारुशिल्प की अवनति के साथ ही साथ देश की आर्थिक दुर्गति भी शुरू हुई है। अतएव, प्रयोजन के क्षेत्र से शिल्प को निकाल देना राष्ट्र के अर्थागम की दृष्टि से भी अत्यन्त क्षतिकर है।

शिल्पशिक्षा के अभाव ने हमारी वर्त्तमान जीवन-यात्रा को असुन्दर ही नहीं किया है, अपितु हमारे अतीत युग के रस-स्रष्टाओं की सर्जित सम्पदा से भी हमें वंचित किया है। हमारी दृष्टि नहीं बनी, इसीलिए देश के अतीत गौरव-स्वरूप जो चित्र, भास्कर्य और स्थापत्य इतने दिनों तक हमारे निकट अबोध्य और अवज्ञात थे, उन्हें हमें समझाने के लिए विदेशों से विज्ञों को आने की आवश्यकता पड़ी। आधुनिक युग की शिल्प रचना भी विदेशों के बाजारों में

परखी नहीं जाने से हमारे देश में आदर नहीं पाती है, यह हमारे लिए लज्जा की बात है।

इसके प्रतिकार के सम्बन्ध में अब स्थूल रूप से विचार किया जाय। शिल्प की प्रारंभिक बात है—प्रकृति को और अच्छी-अच्छी शिल्पवस्तुओं को श्रद्धा के देखना, उनकी संगत करना और जिसमें सौंदर्यबोध जाग्रत हुआ है ऐसे व्यक्ति से वार्त्तालाप करके शिल्प को समझने की चेष्टा करना। विश्वविद्यालयों का कर्त्तव्य है—प्रत्येक स्कूल और कालिज में दूसरी शिक्षाओं के साथ ही साथ शिल्पशिक्षा को स्थान देना, परीक्षा लेने के समय शिल्प को अनिवार्य विषयो में गिनना और विद्यार्थियों का प्रकृति का परिचय कराने के लिए उपयुक्त व्यवस्था करना एवं अवकाश रखना। अंकनपद्धति सीखने के साथ ही साथ विद्यार्थियों की पर्यवेक्षण क्षमता बढ़ेगी; फलस्वरूप वे साहित्य, विज्ञान, दर्शन आदि के क्षेत्र में भी सत्यदृष्टि प्राप्त होंगे। विद्यालयों में काव्यचर्चा की व्यवस्था है, किन्तु काव्य में विश्वविद्यालय की परीक्षा पास कर लेने से ही कोई बड़ा कवि नहीं हो जाता, उसी प्रकार विद्यालयों में शिल्पशिक्षा का आयोजन होने से ही सभी लड़के शिल्पी होंगे और अच्छे शिल्प का सर्जन कर सकेंगे, इस तरह की आशा करना भूल होगी।

पहली बात है, लड़कों के विद्यालयों, पुस्तकालयों, पढ़ने और रहने के कमरों में कुछ-कुछ अच्छी मूर्तियों और दूसरे चारु और कारु शिल्पों के नमूने (न होने पर उनके अच्छे फोटो वा प्रतिच्छवि) सजाकर रखना होगा।

दूसरी बात है, अच्छे-अच्छे शिल्पनिदर्शनों के चित्र और इतिहास दिये गए सहज ही समझ में आने वाले लड़कों योग्य पुस्तकें उपयुक्त व्यक्तियों द्वारा यथेष्ट परिमाण में लिखानी होंगी।

तीसरी बात है, चित्र-पट की सहायता से बीच-बीच में स्वदेश और विदेश की चुनी हुई शिल्प वस्तुओं से लड़कों का परिचय कराना होगा।

चौथी बात है, बीचबीच में उपयुक्त शिक्षकों के साथ जाकर लड़के निकटस्थ जादूघरों वा चित्रशालाओं में अतीत की शिल्पकीर्ति का निदर्शन देख आया करेंगे। विद्यालयों से जब फुटबॉल मैच खेलने जाने की व्यवसाथ

हो सकती है तो चित्रशाला वा जादूघर देख आना भी असंभव नहीं होगा। इस बात को याद रखना होगा कि एक अच्छी शिल्पवस्तु को अपनी आँखों से देखने और समझने से शिल्पदृष्टि जितनी जाग्रत होती है, उतनी सौ भाषणों के सुनने से नहीं होती। छोटी वय से अच्छे चित्रों, अच्छी मूर्तियों को देखते-देखते कुछ समझकर, कुछ बिना समझे ही लड़कों की दृष्टि बनती रहेगी, अपने आप ही उनमें शिल्प के भले-बुरे का विचार करने की शक्ति पैदा होगी और धीरे-धीरे सौंदर्यबोध जाग्रत होगा।

पाँचवीं बात है, प्रकृति से लड़कों का सम्बन्ध स्थापित कराने के लिए भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न उत्सवों का आयोजन करना होगा। उस आयोजन में होगा उन-उन ऋतुओं एवं फल-फूलों का संग्रह और शिल्प तथा काव्य में उन ऋतुओं के सम्बन्ध में जो सुन्दर रचनाएँ हुई हैं उनसे यथासंभव लड़कों से परिचय कराने की व्यवस्था।

छठी बात है, प्रकृति में जो ऋतु-उत्सव हो रहे हैं उनसे लड़कों का परिचय करा देना होगा। शरद् में धान के खेत और कमल के वन, बसंत में पलाश-सेमल का मेला को जिसमें अपनी आँखों से देखकर आनन्द पा सकें, इसकी व्यवस्था करनी होगी। विशेषकर नगरनिवासी लड़कों के लिए यह व्यवस्था अत्यावश्यक है; गाँव के लड़कों की दृष्टि इधर आकर्षित कर देने से ही काम चल जायगा। इन ऋतु-उत्सवों के लिए विशेषरूप से छुट्टी देकर वन-भोजन और ऋतु-उपयोगी वेष-भूषा तथा खेल-कूद की व्यवस्था करनी होगी। प्रकृति से एक बार सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर, प्रकृति को वास्तविक प्रेम करना सीख लेने पर, लड़कों के हृदय में रस का उद्गम फिर कभी नहीं सूखेगा; क्योंकि, प्रकृति ही युग-युग से शिल्पी को शिल्पसृजन का उपादान जुटाती आई है।

अंतिम बात यह है, वर्ष के किसी समय विद्यालयों में शिल्पसृजन का एक उत्सव करना होगा। प्रत्येक शिक्षार्थी को कुछ न कुछ शिल्पवस्तु अपने हाथों से बनाकर इसमें श्रद्धा के साथ सम्मिलित होना होगा—वह शिल्पवस्तु चाहे कितनी भी सामान्य क्यों न हो। लड़कों की सर्जित शिल्पवस्तुएं

उत्सव के अर्घरूप में संगृहीत होकर सजाई रहेंगी। नृत्यगीत, जुलूस आदि के द्वारा उत्सव को सर्वाङ्गसुन्दर बनाने के लिए चेष्टा करनी चाहिए। उत्सव के लिए एक निश्चित समय ठीक कर देना कठिन है, देशभेद से वह बदलेगा। बंगाल में शरद्‌ऋतु ही ठीक मालूम पड़ता है।

हमें जहाँ तक मालूम है, भारत के शिक्षाक्षेत्र में एक मात्र रवीन्द्रनाथ ने ही कलाचर्चा को उपयुक्त स्थान दिया है। विश्वविद्यालय की वर्त्तमान शिक्षापद्धति की व्यवस्था से उन्हें पग-पग पर बाधाएँ मिलीं। विश्वविद्यालय में कलाचर्चा का स्थान न होने के कारण अभिभावकगण कलाचर्चा को अत्यन्त अनावश्यक समझते हैं; फलस्वरूप जिन लड़कों में बचपन में नाना कलाविद्याओं की चर्चा में विशेष अनुराग देखा गया है, वे भी प्रवेशिका परीक्षा के दो-एक वर्ष पहिले से कलाचर्चा की अनावश्यकता के बारे में सजग हो जाते हैं और इसी समय से उनका शिल्पानुराग कम होते-होते बिलकुल लुप्त हो जाता है। इस विषय में हमारे सभी प्रकार की ज्ञानचर्चा के केन्द्र विश्वविद्यालय के अवगत होने का समय आगया है।

इसी प्रसंग में और एक बात कहना चाहता हूँ। जिन सभी सामयिक पत्रिकाओं के सम्पादक अपरिणत हाथों के कच्चे काम को किस विशेष शैली के शिल्प के नाम से प्रकाशित करते हैं, उनकी रुचिहीनता के लिए निन्दा न कर केवल यही कहना यथेष्ट होगा कि अच्छे नए चित्रों के न मिलने पर वे बल्कि अच्छे पुराने चित्रों को छापें, लेकिन मित्रता वा आत्मीयता के लिए लोगों को गुमराह करने के अपराधी न बनें। चित्रों के चुनाव में मर्मज्ञ, सौंदर्यबोधसम्पन्न लोगों की जरूरत पड़ने पर सहायता लेनी होगी; क्योंकि, लोकशिक्षा के क्षेत्र में सामयिक पत्रों का भला वा बुरा प्रभाव फैलाने की शक्ति तुच्छ नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि शिल्प के सम्बन्ध में शिक्षित समाज और विश्वविद्यालय की अवहेलना के कम होने पर तो शिल्पचर्चा का प्रसार होगा और फलस्वरूप देशवासियों का सौंदर्यबोध और पर्यवेक्षणशक्ति बढ़ेगी—इसमें संदेह नहीं।

शिल्पसाधना

उपनिषद् में कहा गया है, आनन्द से ही सारे संसार की उत्पत्ति हुई है। वह आनन्द सारे दुःख-सुखों को लेकर भी दुःख-सुख से परे है। कलाकार भी सृजन करता है सृजन के आनन्द में। कोई शिल्पवस्तु यथार्थ सृजन की कोटि में आती है वा नहीं उसका विचार भी उसी से होता है। आनन्द से अगर किसी भी चित्र वा मूर्ति का उद्भव हुआ है तो वह दूसरों को भी आनन्द का स्वाद देगी। यथार्थ शिल्पसर्जन सजीव होता है, वह अमर है। अगर अजन्ता-इलोरा के सारे चित्र और मुर्तियाँ नष्ट हो जावें तो भी वास्तव में उनका नाश नहीं होगा। कारण यह है कि रसिकों के चित्त में तब भी वह अमर बना रहेगा। अगर एक भी कलाकार ने उसे देखा है तो उसके कामों के अन्दर से उसका प्रभाव, उसकी सत्ता काम करेगी। अर्थात् निष्कर्ष यह निकला कि शिल्पसर्जन होने के कारण वह जीवधर्मी है। जीवों की ही भाँति उसके अस्तित्व की धारा वंशानुक्रम से प्रवर्तित होती है।......

बहुत दिन पहिले आचार्य पैट्रिक गेडिस शान्तिनिकेतन आए थे। तब हम लोगों ने दीवार पर चित्र बनाने की चेष्टा की थी, उपयुक्त उपकरणों के अभाव और करणकौशल को अच्छी तरह न जानने के कारण थोड़े समय के बाद उस चेष्टा को छोड़ दिया। आचार्य गेडिस इस बात को देखकर दुःखी हुए। उन्होंने कहा—"क्यों नहीं बनावोगे? अगर लकड़ी के कोयले से भी बनाते हो और वह चित्र अच्छा बन पड़ता है, अगर उसे एक भी आदमी देखता है तो भी तुम्हारा काम करना सार्थक हो गया। निरूद्यम होकर अगर बैठे रहते हो तो तुम्हारे भाव कल्पना जो कुछ तुम्हारे अन्दर जाग उठते हैं तुम्हीं में लुप्त हो जायँगे, तुम भी उसे भलीभाँति नहीं जान पावोगे, वह दूसरों की दृष्टि के लिये अगोचर ही रह जायगा।'......

सभी शिल्पों का लक्ष्य एक है। कविता, मूर्ति, चित्र, नाच, गाना, सभी सर्जन के मूल आनन्द के छन्द को अपने-अपने छन्दों में पकड़ना चाहते हैं। इस दृष्टि से योगसाधना और शिल्पसाधना में समानता है। अध्यात्म साधना में सृष्टि के सारे वैचित्र्य के अन्तराल में ऐक्य को ढूँढ़ना है—'एक' की तलाश की जाती है, जिसके जानने से सब कुछ को जाना जा सकता है। शिल्प भी ठीक उसी प्रकार 'विराट एक' के दर्शन की अभिलाषा के चल रहा है। एक चीनी कलाकार ने कहा है, "देवता की मूर्ति और दूब का अंकुर, यथार्थ कलाकार के निकट दोनों का एकही मूल्य है, एकही रसप्रेरणा को जगाने की शक्ति दोनों में है।" इसी से समझा जा सकता है कि शिल्पी के लिए 'एक' की धारणा करना कहाँ तक संभव है। हाँ, देवमूर्ति के प्रति अश्रद्धा की कोई बात नहीं है, केवल दूब के अंकुर के प्रति भी समान श्रद्धा की आवश्यकता है।

शिल्पसाधना में शिल्पी सम्पूर्णरूप से निर्लिप्त हो जाता है। कलाकार का अपना व्यक्तिगत भावावेग आकांक्षा, संस्कार, सब कुछ है। किन्तु इसी क्षण वह एक भाव के आवेग से विचलित हो रहा है और दूसरे क्षण सर्जन करने बैठ अपने आवेग से अपने को मुक्त कर लेता है, तब विषयलिप्त उसकी अपनी कोई आकांक्षा वा आसक्ति नहीं रहती है, व्यक्तिगत उपलब्धि की तीव्रता ने नैर्व्यक्तिक रूप धारण कर लिया है। सर्जन के समय शिल्पी अपने व्यक्तित्व से ऊपर चला जाता है और उसका विषय भी आवेग से, भावना से रस में पहुँच जाता है।

कलाकार हृदयविदारक दृश्य भी अंकित करता है और मन को मुग्ध करनेवाले विषयों के चित्र भी बनाता है। लेकिन दोनों की किसी भी वस्तु में लिप्त वा विचलित नहीं होता। शिल्पी सुखदाई या दुःखदाई वातावरण से ऊपर उठकर दोनों के मूल में सत्ता का जो आनन्द वा रस है उसीकी मूर्ति बनाता है। रस के पक्ष से सर्जन न होने से, रस में न पहुँचने से, रचना विकृत होती है—सुख में विकृत, दुःख में विकृत। इसीलिए देखा जाता है कि साधक की जो धारा है वही शिल्पी की भी धारा है, दोनों अपने-अपने

पथ पर चलकर सर्वगत एक विशुद्ध आनन्द को प्राप्त करते हैं। दूसरी उपासना वा व्रत आचार का पालन न करने पर भी शिल्पी अपने कलाकौशल की सहायता से ही साधना करता है।...

एक विशेष दृष्टान्त लिया जाय। काली की मूर्ति वा नटराज शिव की मूर्ति जिसके ध्यान में पहिले आयी थी वह व्यक्ति शिल्पी है, साधक होने पर भी वह शिल्पी है, जिसके हाथों में पहिले आकार प्राप्त हुई थी वह शिल्पी होने पर भी साधक है। क्योंकि, दोनों ने ही किसी एक रस के अन्दर रंग रूप गति और छन्द की मूर्ति वा समष्टि रूप का सर्जन किया है—अथवा कहा जा सकता है कि उसका सर्जन दोनों ही के मन में हुआ है।...

सामाजिक संस्कार के साथ मिलाकर सुनीति-दुर्नीति का अन्तर कला के क्षेत्र में अनावश्यक है। क्योंकि, सामाजिक संस्कार में जो निन्दनीय है हो सकता है कि वही शिल्पी को रसबोध के लिए उद्बुद्ध करके कोई ऐसी रचना करा सके जो शिल्परूप में हजारों लोगों को संस्कारयुक्त खंडित धारणा से परे विशुद्ध रसोपलब्धि पर ले जाय। विषय विशेष को लोग बुरा कहें पर मायावी तूलिका के स्पर्श से उसमें विषयातीत ऐसा कुछ निखर उठेगा जो अभिनव है। जो देखता है वा जो अनुभव करता है वही वस्तु विषयी के कमी-बेशी और चेतना के तारतम्य पर ही निर्भर करता है कि विषय सुनीति-दुर्नीति के स्तर पर ही रह जायगा या उसके ऊपर उठेगा। उपनिषद् में तो दृष्टिकोण है : आत्मा के द्वारा ही रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श और मैथुन की उपलब्धि होती है, इस संसार में ऐसी कौन सी वस्तु है जिसे आत्मा नहीं जानता है।[1] अतएव विषय विशेष में दोष वा गुण नहीं है।

[1] येन रूपं रसं गंधं शब्दान् स्पर्शाश्च मैथुनान्। एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्य ते ॥

ऊपर श्री अरविन्द के अंगरेजी अनुवाद के अनुसार श्लोक का हिन्दी अर्थ दिया गया है।

स्रष्टा निरन्तर जिस विशुद्ध आनन्द वा रस के अन्दर से अवगत होता है शिल्पी भी यदि उसी आनन्द वा रस के अन्दर से अवगत होता है; अगर शिल्पी भी उसी आनन्द या रस की ही दृष्टि से विषय को देखता और सर्जन करता है तो विष भी अमृततत्त्व का परिचय प्रदान करता है। विषय-वस्तु के मोह में ही जो कलाकार भूल जाता है, वह विषयवस्तु को रसवस्तु में परिणत नहीं कर पाता है—वाह्य वस्तु वा घटना ही मिलती है, रस के अन्दर मन को विस्तार वा मुक्ति नहीं मिलती है। जब डाक्टर की निगाह रोग से अधिक रोगी पर ही होती है तो आरोग्यलाभ दुर्लभ हो जाता है।

फिरभी प्रश्न उठता है, सामाजिक दृष्टि से जो कुछ दुर्नीतिपूर्ण है उसी को विषयवस्तु बनाने से समाज का क्या कोई अनिष्ट नहीं होता है। मेरा कथन है कि शिल्पी की रचना जहाँ भी सार्थक हुई है वहीं भावावेग इसमें परिणत हुआ है, खण्ड उपलब्धि एक अखंड के छंद की पकड़ में आ गई है; उसमें शिल्पी भी जैसे रसिक दर्शक है वैसे खण्डित वस्तु वा घटना से, मानसिक अभ्यास और सामाजिक संस्कार से, सम्पूर्णरूप से मुक्त हो गया है; अत्यंत गौणरूप में भी इसका फल सामाजिक शुभ ही हुआ अशुभ नहीं। हाँ, ऐसे रोगग्रस्त मन हैं, ऐसे कितने ही वयःप्राप्त शिशु भी देखे जाते हैं, जो उपलक्ष-स्वरूप वस्तु को ही देख पाते हैं, रस का आवेदन उनके लिए निष्फल है। इनकी अपरिणत वा विकृत मति के उपयोगी शिल्प का सर्जन नहीं किया जा सकता; बल्कि दूसरे प्रकार से चेष्टा करना अच्छा है, धीरे-धीरे इनका बोध, इनकी दृष्टि, जिसमें स्वस्थ और परिणत हो सके।......

कुछ समय पूर्व, पुरी और कोणार्क के मन्दिरों की बाहरी भीतों पर स्थित बन्धकाम मूर्तियों[१] को नष्ट करने की बात उठी थी। अत्यन्त घातक प्रस्ताव!

---

[१] उन्हें दुर्नितिपूर्ण न कहकर आदिरसात्मक कहना ही ठीक है। शिल्पवस्तु का वर्गीकरण नीति की दृष्टि से नहीं, रस की दृष्टि से ही संभव है। रस का व्यभिचार करने पर ही शिल्प के लिए वह 'दुर्नीति है।' रस के साथ व्यभिचार करने पर 'शिल्प' को सामाजिक सुनीति के प्रचार में भी लगाया जा सकता है; लेकिन वह यथार्थ शिल्प- र्जन नहीं है।

उनके चले जाने से शिल्पसर्जना के कितने ही श्रेष्ठ निदर्शन चले जायँगे। निश्चितरूप से नहीं कह सकता कि पुरी और कोणार्क के भास्कर शिल्पियों ने इस विषय को क्यों चुना था। विभिन्न मनीषियों ने भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ दे रखी हैं। मनुष्य के जीवन में नवरस की जो लीलाएँ हैं उनमें यह अन्यतम रस· आदिरस है। यह बात निःसंशयरूप से कही जा सकती है कि रससर्जन की दृष्टि से उपर्युक्त मूर्तियाँ बहुत ही उच्चकोटि की हैं।......

शिल्पी की चित्तवृत्ति भिन्न-भिन्न समयों पर भिन्न भिन्न भावावेगों से आन्दोलित होती है। ऐसा देखा जाता है कि एक ही शिल्पी की किसी एक रचना से रसिक के मन में दिव्य भाव जाग उठे और दूसरी रचना निम्नकोटि की हुई। लोग विस्मित होते हैं। लेकिन, विस्मय के लिए कोई कारण नहीं हैं; वातावरण के परिवर्त्तन से मानसिक अवस्था के परिवर्त्तन से वही शिल्पी भिन्न मनुष्य हो जाता है, रस की उपलब्धिकर, छन्द का रहस्य जान, जिस क्षण शिल्पी सर्जन करता है उस क्षण मनुष्य द्वारा प्राप्त करने योग्य सबसे उन्नत दशा उसकी मुट्ठी में होती है; लेकिन सदैव ऐसा ही नहीं होता। व्यावहारिक जीवन में पड़कर कभी-कभी स्मृति-भ्रंश होता है, समग्र जीवन आनन्द के छन्द में छन्दमय होगा, वास्तव में यही शिल्पी की साधना होने पर भी, सदा सिद्ध नहीं होती है।...

अद्वैत की साधना में परम उपलब्धि पर पहुँचने के लिए भिन्न-भिन्न दशाओं का अतिक्रमण करना पड़ता है। कलाकार का आत्म-विकास भी उसी प्रकार से होता है। किन्तु अद्वैतवादी सोच सकता है कि साधना के पथ पर जो कुछ छोड़ जाना होगा वह अनित्य है, वह तुच्छ है; उसीको लेकर शिल्पसर्जन का क्या अर्थ होता है? शिल्पी का उत्तर यह है कि शिल्प का सर्जन माया के ही आधार पर होता है। माया स्रष्टा को अभिभूत नहीं करती है। ठाकुर श्रीराम-कृष्ण ने उपमा के बहाने कहा है कि साँप का बिष साँप पर असर नहीं करता। शिल्पी भी माया को जानकर माया का व्यवहार करता है इसीलिए वह लीला बन जाती है। देखने में तुच्छ हो या ऊँचा हो, अनित्य हो या नित्य हो, सब के अन्दर अनुस्युत 'एक' की एकता का ही अनुभव करना और प्रकट करना ही शिल्पी की साधना, शिल्पी की सिद्धि है। विषय के मोह में पड़ना ही भय

का कारण है। वही माया की दासता है। शिल्पी माया को 'एक' के बीच विचित्र छन्द के आन्दोलनरूप में देखता है।......

जिस कलाकार में समता और समग्रता का बोध नहीं हुआ है उसीको विशेष विषय चाहिए, विशेष संवेदना चाहिए। अगर इसका अभाव हुआ तो उसकी प्रेरणा काउद्गम सूख गया; क्योंकि रस के चिर उद्गम का पता नहीं चला है।......

हिन्दू घर में पैदा होकर हिन्दूओं की शिक्षा-दीक्षा में मैं पला हूँ। एक समय विशेषकर देव-देवियों के ही चित्र अंकित किए। किन्तु अब जिस प्रकार देवताओं के चित्र बनाता हूँ उसी प्रकार साधारण जीवन के चित्र भी बनाया करता हूँ; दोनों में बराबर आनन्द पाने की चेष्टा करता हूँ। देवताओं की रूप-कल्पना ही उच्चकोटि की वस्तु है, चारों ओर की साधारण वस्तुओं के रूप तुच्छ हैं—यह धारणा पहिले थी। मन की परिणति के साथ-साथ अब रूप को ही मुख्य नहीं समझता उनमें से प्रत्येक को एक ही सत्ता के भिन्न-भिन्न छन्द और मूर्ति के रूप में देखता हूँ। समग्र संसार, अन्दर और बाहर के सभी रूप जिस जीवन से निकलते हैं और जिस जीवन में स्पन्दमान हैं[1] सत्ता के उसी जीवन छन्द को सभी रूपों में ढूँढ़ता हूँ चाहे वह साधारण हो या असाधारण। अर्थात् पहिले देवता के रूप में ही देखता था, अब मनुष्य, वृक्ष, और पहाड़ में देखने की चेष्टा करता हूँ।

सभी देशों, सभी युगों में बड़ी कला के पीछे बड़ा आदर्श वा बड़ी कल्पना रहती है। जैसे यूरोप में ईसा का आदर्श था, भारत में था श्रीकृष्ण और बुद्ध का, चीन में तावो का। कल्पना की मूर्ति रूप में व्यक्ति की पूजा करते रहने पर कालान्तर में व्यक्ति कल्पना से बड़ा हो उठता है, धीरे-धीरे मनुष्य कल्पना को गलत समझने लगता है वा भूल जाता है; पारिपार्श्विक

[1] यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम्। कठ २, ३, २ श्लोक।

जीवन पर अनुरागरंजित चेतना का प्रकाश नहीं पड़ता है, वह उपेक्षित होता है। हमारे देश में यही हुआ है। समय-समय पर प्रकृति के अन्दर ही साधकों ने काली की मूर्ति और शिव मूर्ति देखी है; हम उस विशाल प्रकृति को ही देखना भूल गए हैं। 'इशा वास्यमिदम् सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्'[1] उपनिषद् के इस मंत्र की दीक्षा लेकर भारत की भावी शिल्पकला समग्र जीवन को और समस्त जगत को सत्य की दृष्टि से देखेगी, नए सिरे से सर्जन करेगी।

---

१. ईशोपनिषद् का प्रथम श्लोकार्ध, श्री अरविंदकृत अर्थ : संसारके अन्दर जो कुछ है उसे संसार के परमेश्वर का निवास-मंदिर समझो।

शिल्प–परिचय

साधारणतः हम तीन प्रकार के चित्र देखते हैं—(१) अनुकारक (२) व्यंजक (३) छान्दसिक।

पहले प्रकार के चित्र में हूबहू नकल करने की चेष्टा दिखाई पड़ती है। जब फोटोग्राफी नहीं थी उस समय हूबहू नकल करने के कौशल की विशेष आवश्यकता थी। चित्रशिल्पियों ने जब आँखों देखी किसी वस्तु का चित्र समतल भूमि पर बनाकर उसी चित्र में असल वस्तु का भ्रम उत्पन्न करने की चेष्टा की तभी परिप्रेक्षित-विज्ञान, वर्णलेप-विज्ञान, जीवजन्तु और मनुष्य के शरीर की हड्डियों और पेशियों के संस्थान विज्ञान और सूर्यकिरण विज्ञान ने शिल्प के क्षेत्र में विशेष प्रधानता पाई। कैमरे की उन्नति के साथ ही साथ इस प्रकार की पद्धति के अंकण कम हो गए हैं, किन्तु पूर्वोक्त विज्ञान शिल्पियों के लिए सीखने की वस्तु बनी रहे।

संकेत वा इशारे से जो चित्र अंकित किए जाते हैं वे व्यंजक वा व्यंजना प्रधान चित्र कहे जाते हैं। इस प्रकार के चित्रों में केवल आँखों से देखना तो नहीं रह गया, मन का देखना भी आ गया। प्रकृति में सभी वस्तुओं को आँखें खोलकर देखने पर भी उनका देखना सम्पूर्ण नहीं हुआ। और, मन की सहायता से किसी वस्तु को देखने से उस वस्तु के अंकण के समय शिल्पी के मन की जो दशा होती है उसीकी छाप अंकित रूप के साथ युक्त रहा। मन किसी वस्तु को अंशतः वा न्यून करके देखता है, किसी वस्तु को अतिकृत करके देखता है। इसलिए इस प्रकार की व्यंजनाप्रधान चित्र किसी वस्तु की हूबहू नकल हो नहीं सकती है। वस्तु के वास्तविक रूप के साथ अंकित रूप में अन्य विशेषता होगी ही। यहाँ याद रखना होगा कि इस प्रकार के मनगढ़न्त व्यंजनाप्रधान चित्र और अपटु शिल्पी के गलत अंकित चित्र में आकाश-पाताल का अंतर होता है। क्योंकि, पटु शिल्पी के शिल्पसर्जन-कौशल और शिल्प विज्ञान के जानकार होते हुए भी देखे हुए रूप और अंकित रूप में अन्तर करते हैं; यह अन्तर वे कभी अनजान में करते हैं, कभी जानबूझकर सतर्क रहकर ही करते हैं।

छान्दसिक से उन चित्रों को समझना चाहिए जिनमें विशेषकर छन्दों पर ही जोर दिया जाता है। छन्द को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(१) स्वगत छन्द (२) श्रेणीगत छन्द (३) साधारण छन्द।

बाँस का वृक्ष एक विशेष वृक्ष है, बाँस के स्वगत रूप में ही उसकी विशेषता है; इसलिए बाँस और घास का अन्तर समझ में आ जाता है, यही स्वगत छन्द है

बाँस और घास में सम्बन्ध है। ये दोनों एक ही पर्याय के हैं; शाल वा सागौन में जो अन्तर है इसकी तुलना में इन दोनों में विशेष समानता है। इसलिए वे दोनों एक ही श्रेणीगत छन्द में बँधे हुए हैं।

लेकिन बाँस और घास इन दोनों से अगर उस छन्द को विच्छिन्न करके व्यवहार किया जाय तो यह विशेषरूप से यह नहीं कहा जा सकेगा कि वह बाँस, घास वा फौवारा कौन सी वस्तु है। क्योंकि, फौवारे जैसी गति की रेखाएँ उन तीनों वस्तुओं में मिलने वाला सामान्य छन्द है।

शंख, लता, जल वा हवा का चक्र आदि भी इसी तरह के आवर्त्त सामान्य छन्द हैं। अलंकरण-शिल्प उसी प्रकार के काम को कहते हैं जिसमें सामान्य छन्द की लीला रहती है; उद्देश्य केवल मण्डन वा शोभा बढ़ाना है। जैसे, गलीचा, नाना प्रकार के जालीदार काम, आलपना।

श्रेणीगत छन्द में प्रकृति की किसी वस्तु की बनावट रंग वा गति के

साथ किसी दूसरी वस्तु की बनावट रंग वा गति की तुलना आभास से की जाती है। मनुष्येतर प्राणी वा वस्तु की बनावट रंग वा गति से तुलना की जाती है। जैसे कमल की पंखुड़ियों से मनुष्य के आँखों की, गज के गमन से नारियों के चलने की बिम्ब के रंग से होठों के रंग के सादृश्य की कल्पना की गई है। मनुष्येतर जीव वा वस्तु से तुलना करने का कारण यह है कि इनकी आकृति भंगिमा रंग अपरिवर्तित है। इसीलिए इनकी आकृति भंगिमा रंग सौंदर्य के ध्रुवमान रूप में व्यवहार योग्य हैं। इन ध्रुवमानों को शिल्पियों ने प्रकृति का सांगोपांगरूप से पर्यवेक्षण करके ही निश्चित किया है।

लेकिन, बहुत दिनों तक एक ही वस्तु का किसी दूसरी वस्तु से अभ्यासवश तुलना करने से चित्र में एक दोष आ जाता है। जो चित्र इस दोष से दूषित है उसी को पट कहते हैं। कालान्तर में जाति की परिवर्त्तित रुचि के अनुसार इसमें परिवर्त्तन होना चाहिए; शिल्पियों को चाहिए कि वे स्वयं नये-नये सादृश्यों का आविष्कार करें।

चित्रों के विभाग के विषय में जो कुछ कहा गया वह बहुत ही संक्षिप्त है। बहुधा उल्लिखित एकाधिक लक्षण एक ही चित्र में मिल जाते हैं, तब मूल प्रेरणा वा जिसकी प्रधानता है उसी के हिसाब से श्रेणी विभाग संभव है। इन विशेष श्रेणियों के विशेष लक्षण हैं जो सभी देशों के शिल्प में मिलते हैं। पर कहीं किसी प्रकार पर कहीं दूसरे प्रकार पर जोर दिया जाता है। और ऐसा, भी कहा जा सकता है कि युग-युग में, बहुत कुछ घड़ी के पेण्डुलम-सा ही जाति का मन अनुकारक, व्यंजक और छान्दसिक इन तीनों के अन्दर आता-जाता रहता है।

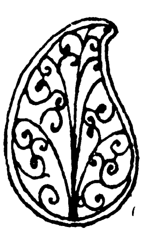

फ़ौव्वारा की भाँति उत्सारित रेखा छन्द रचित अलंकरण

शिल्प में शरीररचनाविद्या का प्रयोग

भारत के आधुनिक चित्रकारों और मूर्तिकारों के मन में शरीररचना शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न उठते हैं; क्योंकि, इस विषय में अस्पष्टता रह गई है। प्रश्नों और उनके बारे में हमें जो कुछ सूझ रहा है इस पर विचार किया जाय।

(१) विलायत के ऐकेडेमिक शिल्पियों की तरह प्राच्य शिल्पियों को शरीररचना विद्या सीखने की आवश्यकता है या नहीं?

(२) शरीर रचना जानने से प्राच्य शिल्पियों के किसी अनिष्ट होने की संभावना है या नहीं? क्योंकि, पूर्वोक्त विलायती शिल्पियों की धारणा है कि शरीर रचना में गलती रहना ही प्राच्य शिल्प की विशेषता है।

(३) आलंकारिक (Decorative) शिल्प में शरीर रचना के सत्य को कायम रखा जा सकता है या नहीं?

(४) प्राच्य और आधुनिक पाश्चात्य शिल्प में शरीर रचना (Anatomy), परिप्रेक्षित (Perspective) इत्यादि के विज्ञान सम्मत नियमों का उलंघन करके भी उच्चकोटि के चित्र और मूर्तियाँ बनी हैं। इसका क्या कारण है?

भारतीय शिल्पी को देह के ढाँचे, बनावट और नापतौल भलीभाँति जानना होगा, इसमें कोई संदेह नहीं। लेकिन विलायती पद्धति से नहीं।

विलायती शिल्प में शरीर रचना के ज्ञान का अर्थ होता है चीर-फाड़ करके देह की बनावट के बारे में जो कुछ जाना जाय। लेकिन, देह की बनावट और विचित्र गति भंगिमा का ध्यान रखकर देह की बनावट के बारे में जो ज्ञान प्राप्त होता है, प्राच्य शिल्प में इसी का बोध होता है। विलायती शिल्पी देह के अंगों के विश्लेषण से उसकी समग्रता पर पहुँचता है, प्राच्य शिल्पी देह के समग्रता बोध से अंगों के विश्लेषण पर पहुँचता है। एक

विज्ञान वा 'व्याकरण' से आरंभ करके जीवनछन्द वा life movement पर पहुँचने की चेष्टा करता है। और, दूसरा जीवन छन्द से आरंभ करके विज्ञान वा व्याकरण की शिक्षा पूरी करता है। अतएव, शरीररचना विद्या देशी-विलायती दोनों शिल्पियों को सीखनी पड़ती है; पर उसका व्यवहार और शिक्षा पद्धति भिन्न है।

विलायती रीति में शरीर रचना का ज्ञान पृथक कक्षा में अलग ढंग से सीखने की व्यवस्था है। उन कक्षाओं में आदर्श रूप में जीवित मनुष्य पुरानी ग्रीक मूर्तियाँ, मनुष्य और जीवजन्तु के कंकाल, मनुष्य तथा दूसरे प्राणियों के देह की पेशियों के चित्र और कृत्रिम ढंग से रखे मृत पशु पक्षियों के संग्रह रहते हैं। निकट के किसी जादूघर वा चिड़ियाखाने के न होने पर इस तरह के संग्रह शिल्पियों को कल्पना प्रसूत चित्र वा मूर्ति बनाने के समय तुलना करने के काम में आती हैं सही, पर रचना कल्पना करने के पहिले ही बहुत परिश्रम करके उनकी नकल करने में कोई सार्थकता नहीं देखता। अथच कितने ही विलायती शिल्पियों की धारणा है कि कल्पना करना सीखने के पहिले इस प्रकार से नकल करना सीख लेने पर पक्का शिल्पी बना जा सकता है। कोई-कोई कहते हैं कि अंकन (drawing) सीखने के लिए उन वस्तुओं की नकल करने की आवश्यकता है। ठीक प्राच्य मतानुसार अंकन-कौशल को अलग से सीखने की आवश्यकता नहीं, कल्पना करने के साथ ही साथ अंकन कौशल सीखना ही अच्छा है। अंकन सीखने की जरूरत पड़ने पर श्रेष्ठ शिल्पी के श्रेष्ठ चित्र और मूर्ति से नकल करना चाहिए; इससे शिल्प शिक्षा की प्रधान वस्तु जीवन शक्ति और छन्द का बोध नष्ट नहीं होता बल्कि अंकन सीखने के साथ-साथ वह बढ़ता रहता है।

हमारे मतानुसार प्राच्य शिल्पी के लिए शरीररचना विद्या सीखने के समय पूरे शरीर की एक रूपरेखा (outline) और भंगिमा निश्चित करके उसके बाद अंग-प्रत्यंग के ब्योरे के ज्ञान का अनुशीलन (study) करना चाहिए।

जब मनुष्य वा जीवजन्तु हिलते-डुलते हैं अर्थात् क्रियाशील रहते हैं

तभी अनुशीलन के लिए उपयुक्त समय होता है; जब देह की संधियों का परस्पर सम्बन्ध और पेशियों तथा पेशीरज्जुओं[1] की क्रिया दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार से देह की सक्रिय दशा में अनुशीलन करने से अंग-प्रत्यंगों वा शरीर रचना के ब्योरों का याद रखना सहज होता है, अनुशीलन स्वाभाविक और सजीव होता है। जीवजन्तु जब अपने को भूलकर कुछ करते हैं तब उनके अंग-प्रत्यंगों के हिलने-डुलने और मन के साथ गहरा सम्बन्ध होता है। इसलिए वह सहज ही शिल्पी का ध्यान आकर्षित करता है, उनके शरीर का कौन सा अंग किस तरह से किस काम में आता है इसके समझने में आसानी होने के कारण ज्ञान का विकास सहजही होता है और शिल्पी के मन पर जो छाप पड़ती है वह दृढ़ और स्थायी होती है।

कुशल शिल्पी की रचित मूर्ति वा चित्र से भी शरीर रचना सीखा जा सकता है, क्योंकि उसकी भंगिमा शुद्ध (Sincere) और यथायथ होती है। माँग के अनुसार सजाकर बैठाए 'माडेल' या 'डमी' की सहायता से कल्पना करना अच्छा

नहीं। क्योंकि माँग के अनुसार विशेष भंगिमा (Pose) देने से वह सच्चा नहीं होत; बहुत देर तक एकही भंगिमा में रहना परिश्रमसाध्य और क्लेशकर होता है, इससे 'माडेल' के मन के साथ देह का सामंजस्य नहीं रहता। 'डमी' तो बिल्कुल प्राणहीन होती है। फलस्वरूप इनकी सहायता से कल्पना करने की चेष्टा करने से मूर्ति में चित्र से जड़तुल्य प्राणहीन भाव प्रकट होता है।

---

(१) पेशी = muscle देहसंधि वा अस्थिसंधि = joint पेशीरज्जु वा कण्डरा = tendon।

हाँ, जिस शिल्पी में जीवनछन्द की सही धारणा है उसके उस प्रकार के कृत्रिम आदर्श की सहायता लेने पर भी कोई क्षति नहीं होती। अधिकांश विलायती शिल्पी 'माडल' के बिना मूर्ति या चित्र बना ही नहीं पाते हैं; मानसिक कल्पना करने से बड़ी असुविधा में पड़ जाते हैं।

शरीररचनाविद्या को कंठस्थ करने की भाँति सीखने वा नकल करने से हो सकता है कि अंकन की दक्षता बढ़े पर मन भाव की दृष्टि से भूखा रहता है, क्रमशः कल्पनाशक्ति भी दुर्बल हो जाती है।

प्राच्य शिल्पी के लिए विलायती शिल्पी के अनुकरण पर पहिले ही इतना कष्ट उठा कर शरीर-रचना विद्या सीखने की जरूरत नहीं होती। क्योंकि, प्राच्य शिल्प में कल्पना करने के समय केवल जीवनछन्द का ज्ञान रहने से ही काम शुरू हो जाता है। उसी से भावों के प्रकट करने का काम चलता रहता है। क्रमशः शिल्पी का पर्यवेक्षण जितना ही बढ़ता रहता है

उसकी कल्पना में रूपरेखा के गढ़ने का ज्ञान जुड़ता रहता है। लेकिन, उसकी जितनी जरूरत है उतने का ही व्यवहार करना चाहिए। रूपरेखा में देने जीवनछन्द को नष्ट नहीं करना चाहिए। भाव की यथायथ भंगिमा, गति और छन्द मूल जीवनछन्द का आधार बना कर रहते हैं। जीवन छन्द का ज्ञान मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। यहाँ तक कि छोटे बच्चों के बनाए चित्रों में भी इसका व्यतिक्रम नहीं होता। छोटे बच्चे के बनाए चित्र में जीवनछन्द

स्पष्ट होता है; क्योंकि, वे उसी से अंकन का प्रारम्भ करते हैं। गाँव के कुम्हारों के बनाए खिलौने और पटों में भी इसका दृष्टान्त देखने में आता है। शिशु और गाँव के कारीगर का काम सहज होता है, क्योंकि उनमें गढ़न का अधिक ज्ञान नहीं है। उच्चकोटि के शिल्पी का काम भी सहज होता है; क्योंकि उसकी मुट्ठी में प्रचुरज्ञान है। भाव और छन्द को प्रकट करने में वह गढ़न की अनावश्यक जटिलताओं का वर्जन कर सकता है।

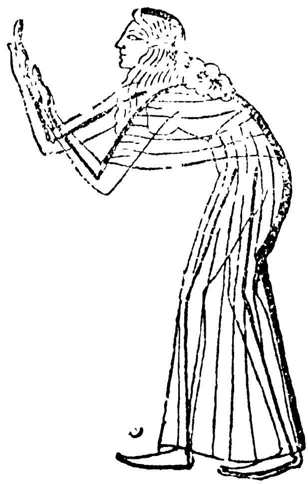

जीवनछन्द क्या है ? शिल्पसर्जन में जिस रेखा के इशारे पर प्रत्येक वस्तु का और भिन्न-भिन्न वस्तुओं को मिलाकर समग्र रचना की एकता और चारित्र्य निखर उठता है उसीको जीवनछन्द कहते हैं।

जीवन से सबसे पहिले एक स्पन्दन का बोध होता है। इसके बाद वस्तु के घनत्व और भार के अनुसार कुछ स्वाभाविक गति आती है, जैसे उठना, गिरना, घूमना, लुढ़कना, तैरना, कूदना आदि; और प्राणी के इच्छानुसार कई गति और भंगिमाएं हैं, ये उसकी भिन्न-भिन्न भावनाओं (emotion) वा मनोविकारों के आधार पर प्रकट होती हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, घृणा, भय, शोक आदि। भिन्न-भिन्न प्राणियों में जीवनीशक्ति के मात्राभेद से कोई भावावेग न्यूनाधिक होते हैं। इन भावावेगों को अलग-अलग रूप में दिखाने का कोई उपाय नहीं है। प्राणी के अन्दर एक-एक विकार के साथ-साथ उसके शरीर में एक-एक भंगिमा प्रकट होती है, उसी भंगिमा को

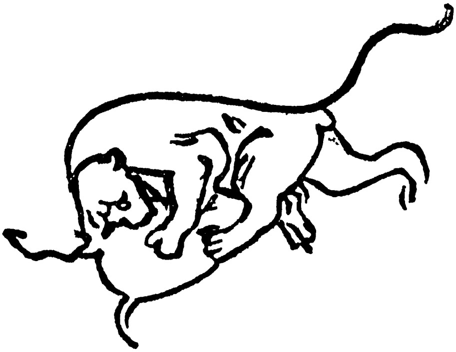

उस भावावेग का रूप मान लेना होगा । विशेष प्राणी में कोई विशेष भावावेग सर्वदा दिखाई पड़ता है । फलस्वरूप उस प्राणी के देह में उसकी छाप स्थायी होकर उस भाव का प्रतीक बन जाती है । बाघ हिंसा का प्रतीक है, खरगोश-हरिण भय के प्रतीक हैं । भंगिमाएं प्रधानतः प्राणी

के मेरुदण्ड को आधार बना कर होती हैं और मेरुदण्ड की भंगिमा वा रेखा बगल से स्पष्ट दिखाई पड़ती है ।

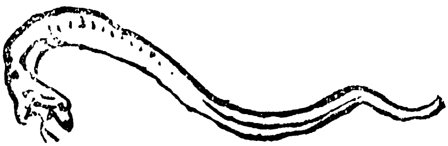

इस जीवनछन्द की रेखा के आधार पर ही शरीर का संतुलन (balance), ढांचा (construction) और घनत्व (Volume) लक्ष्य करने की बात है । जीवनछन्द जिस प्रकार से उन्हें नियमित करता है उसी प्रकार उनसे नियमित होता है ।

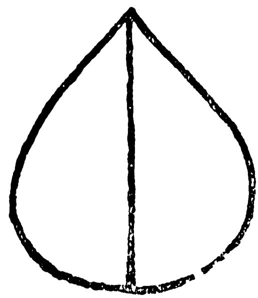

प्राच्य प्रतिमाकार के काम में भी प्राच्य शिल्प में शरीर रचना का प्रयोग कैसा होता है इसका संकेत मिलता है । प्रतिमाकार का ढाँचा बनाना, पुआल बाँधना, एक मटिया, दो मटिया संस्कार हो जाने पर बनावट की रूपरेखा जोड़ता है । पुआल लगाने और एक मटिया ही जाने पर ही भंगिमा और बनावट का क्षीण

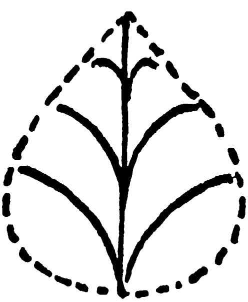

सादृश्य मालूम हो जाता है ।

रूपरेखा की बनावट दो प्रकार की होती है। एक याथर्थवादी (realistic) और दूसरी मनगढ़ंत (conventional)। प्राच्य शिल्पी का मन अलंकारप्रवण और छन्दप्रिय होने के कारण मनगढंत रूप ही इस देश के शिल्पियों के लिए उपयुक्त हुआ है।

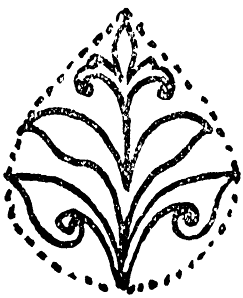

जिस प्रकार मण्डन शिल्प में कोई चित्र बनाना हो तो[1] उसकी सीमा का विभाजन और गति-भंगिमा पहिले से ठीक कर ली जाती है, फिर उसमें यूनिट (motif, unit) जोड़ा जाता है—उसी प्रकार कोई चित्र वा मूर्ति बनाना हो तो पहले जीवनछन्द की रेखा और भंगिमा निश्चित करके उसके ऊपर अवयवों के मनगढंत रूप वा मुद्रा जोड़ी जाती है। जो यथार्थवादी चित्र बनायेंगे वे भी जीवनछन्द की रेखा के ऊपर, भंगिमा के ऊपर, यथार्थ रूप का निर्माण करेंगे। देशी-विदेशी दोनों शिल्पियों को ही जीवनछन्दसूचक रेखा के इशारे पर ही सर्जन आरंभ करना पड़ता है, दोनों के लिए उसका बराबर मूल्य है। जब शिल्पी चित्र वा मूर्ति की कल्पना करते हुए वस्तु की इन्द्रियग्राह्य बनावट के साथ मन के भावावेग को युक्त करके उसमें तारतम्य लाता है तभी मुद्रा अपने आप बन जाती है।

[1]लेखक की ornamental Art पुस्तिका देखिए।

सजीव आदर्श या माडेल के व्यवहार की प्रथा न होने के कारण प्राच्य शिल्पी ने वस्तु के रूप को मन में पकड़ रखने के लिए एक उपाय निकाला है। किसी वस्तु की मन में धारणा करने के लिए प्रकृति से उसी प्रकार की बनावट की किसी प्रिय वस्तु के रूप और गुण से तुलना करके उसे याद रखा जाता है। इसीको भारतीय शिल्प-शास्त्र में सादृश्यबोध कहा गया है। इसी उपाय से विशेष रूप की विशेष मुद्रा बनी है। आँख की बनावट याद रखने के लिए कमल की कलियों के सादृश्य को याद रखना आवश्यक है। कमल की कली से तुलना का कारण है उसकी बनावट, उसकी मनोहारिता। भिन्न-भिन्न रूपों की बनावट, गति, भाव और अनुषंग (association) की तुलना करके भिन्न-भिन्न सादृश्यों की कल्पना और व्यवहार प्रचलित हुआ है[1]। पुराने कवियों के उपमा कौशल में भी इसके दृष्टांत मिलेंगे।

शिल्परचना के मामले में विभिन्न आश्रय एवं उपकरण की बाधा का अतिक्रमण करने के उद्देश्य से शिल्प की विभिन्न भाषा एवं उन-उन भाषाओं से भिन्न-भिन्न मुद्रा का उद्भव हुआ है।

कई शताब्दियों से प्राच्य शिल्पीगण केवल थोड़े से मनगढ़न्त और यथार्थवादी रूपों का व्यवहार करके उत्कृष्ट चित्र और मूर्तियां बना गए हैं।

[1]श्रीयुत अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की Some Notes on Indian Artistic Anatomy वा भारत शिल्पे मूर्ति (विश्वविद्या ६२) देखिए।

यद्यपि चित्र वा मूर्ति सर्जन करने के मामले में भंगिमा, अनुपात (proportion), सादृश्य, संतुलन (balance), ये ही प्रधान अवलम्ब हैं। फिरभी उसे सजीव और लावण्ययुक्त बनाना हो तो स्वाभाविक से नूतन आकृति और नवीन भंगिमा का बारम्बार अनुशीलन करना आवश्यक है। केवल परम्परा (tradition) से नकल करके चित्र बनाने से वह एकांगी हो जाता है; दूसरी ओर केवल स्वभाव की नकल करने से वह चित्र न होकर फोटो या प्रतिकृति मात्र होता है, उसमें अपनत्व का रस कुछ भी नहीं रहता है। प्रतिभाशाली शिल्पी स्वभाव को अच्छी तरह लक्ष्य करके और स्वभाव से ही मन के अनुकूल सादृश्य ढूँढ़कर मुद्रा की रचना करते हैं। और परम्परागत मुद्राओं में जीवन का संचार भी कर सकते हैं; क्योंकि, स्वभाव से घनिष्ठ परिचित रहने के कारण प्रत्येक के गूढ़ अर्थ को वह समझते हैं और उसमें स्वाभाविक बनावट, गुण और गति को उससे नया करने का आयोजन कर सकते हैं।

वास्तव में, सभी शिल्प सर्जन मनगढ़ंत होते हैं, हां, कहीं अलंकारपरक, कहीं यथार्थवादी। यथार्थवादी मुद्रा व्यक्तिगत होती है। बहुतेरे भौतिकवादी शिल्पी आजीवन अपनी-अपनी रचनाओं में एक ही प्रकार की बनावट का व्यवहार कर गए हैं। ऐसा होना ही स्वाभाविक है और इसीलिए खास-खास शिल्पियों के कामों को पहचान लेना संभव है। लेकिन इससे यह नहीं कहा जा सकता है कि शिल्पी के काम में मुद्रा-दोष उत्पन्न हो गया है। प्रतिभाशाली शिल्पी छन्द और भाव प्रकट करने में ही लीन रहते हैं; विशेषकर बनावट की ही विचित्रता दिखाने की इच्छा उनके मन में नहीं आती है। भाव, छन्द और रससामग्री का प्राचुर्य होने के कारण रूप की परिमिति रूपायन का गुण समझी जाती है। भाव और छन्द में कमी होने पर ही रूपवैचित्र्य का अभाव एकांगी मुद्रा-दोष बन जाता है।

शरीररचना का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर प्राच्य शिल्प के लिए कुछ अनिष्ट की संभावना है या नहीं एवं शरीर रचना की भ्रान्ति ही प्राच्य शिल्प की विशेषता है या नहीं, इस प्रश्न के उत्तर के लिए प्राच्य और पाश्चात्य शिल्प में कहाँ अन्तर है यह जानना आवश्यक है।

प्राच्य शिल्प की विशेषता है गति, भंगिमा, छन्द और व्यंजना के द्वारा भाव को प्रकट करना; स्वाभाविक देह की रूपरेखा बनावट वहाँ गौण है। इसे व्यंजक कहा जा सकता है।

पाश्चात्य शिल्प में स्वाभाविक देह की बनावट ही मुख्य है, उसमें भंगिमा और गति का आयोजन कर भाव प्रकट किये जाते हैं। इसे नाट्य-धर्मी कहना उचित होगा।

पहले में अस्थि, पेशी आदि का किंचित संकेत रहने से ही काम चल जाता है; दूसरे में उसका पूरा रहना ही नियम है।

प्राच्य शिल्पी ने शरीर-रचना के बारे में पूरी तरह जानकर भी विशेष मूर्ति वा चित्र के विशेष प्रयोजन के अनुसार अपने ज्ञान का न्यूनाधिक व्यवहार किया है। बुद्ध मूर्ति जैसी अतुलनीय शिल्पसर्जन में उसका प्रयोग संकेतमात्र में है। बुद्ध मूर्ति होने के कारण नहीं, कितनी ही देव वा अतिमानव मूर्ति मानव देही होने पर भी यथार्थ मानवदेह का सादृश्य और प्रमाण उनमें से किसी में नहीं चलता है। प्राच्य शिल्पी को विशेष भाव के लिए विशेष शरीर रचना की ही कल्पना करनी पड़ी है। सहज बनाने का प्रयोजनहोने के कारण ही वैसा किया गया है, शिल्पी के ज्ञान और अनुशीलन के अभाव वा अल्पता के कारण नहीं।

कितने ही लोग पूछते हैं कि ठीक-ठीक बनावट को ज्यों का त्यों रखकर चित्र वा मूर्ति क्यों नहीं बनती है। ऐसा नहीं होता है। किसी शिल्पी से अगर कहा जाय 'तुम्हारी मूर्ति अमुक आदमी के बनावट जैसी है' वा 'तुम्हारा चित्र अमुक के फोटो जैसा लगता है,' तो शिल्पी को दुःख ही होगा और वह कहेगा, 'नहीं, यह मेरी बनाई चीज़ है, स्वभाव की अनुकृति नहीं है।'

आलंकारिक[1] शिल्प में शारीररचना के सत्य को कायम रखा जा

[1] आलपना, कार्पेट, जाली का काम, भिन्न-भिन्न चीजों पर नक्काशी जो केवल स्थान विशेष वा वस्तु विशेष को अलंकृत वा मंडित करने के लिए प्रयुक्त होती हैं वही अलकरण वा मंडन कहलाता है। इस प्रकार के कामों का ढंग जिस चित्र वा मूर्ति में मिलता है उसी को मण्डनपरक वा आलंकारिक कहा गया है।

सकता है या नहीं ? अलंकरणशिल्प में जिस प्रकार निश्चित सीमा के अन्दर एक गतिभंगिमा को पकड़कर नाना अलंकारमुद्रा (ornamental motif) जोड़कर खाका तैयार किया जाता है, प्राच्य शिल्पी उसी तरह किसी मनुष्य वा जीव का चित्र वा मूर्ति बनाने के समय मनुष्य वा जीव के जीवनछन्द की रेखा की भी एक रूपरेखा बनाकर उसके बाद देह के विभिन्न अंगों के लिए भिन्न-भिन्न मुद्राएं (conventional form) जोड़ता है। आलंकारिक रीति

से चित्र वा मूर्ति बनाना हो तो स्वाभाविक चेहरे से वह ठीक-ठीक मेल नहीं खाता है, भिन्न-भिन्न अंग-प्रत्यंगों के नाप या प्रमाणों में हेर-फेर और कम-बेशी हुआ करती है। मंडन की निजस्व गतिभंगिमा के कारण उसके झुकाव और खिंचाव कायम रखने के लिए, विशेष भावों को प्रकट करने के उद्देश्य से विशेष सादृश्य का अनुसरण करके एक रूप में किसी दूसरे रूप का प्रमाण आरोपित होता है। फलस्वरूप, उपमित वस्तु के अंग-प्रत्यंग नाप-जोख में छोटे-बड़े होते हैं, कुछ छोड़ दिये जाते हैं, कुछ उपमान से उपमित वस्तु में नए सिरे से जुड़ते हैं। देव दानव अवतार आदि अतिमानव मूर्तियों का प्रमाण मानविक नहीं हो सकता, यह पहिले ही कहा जा चुका है; इन मूर्तियों के नव ताल दश ताल द्वादश ताल आदि कल्पित नाप शिल्पशास्त्र में वर्णित हुए हैं; शिल्पगुरु स्वर्गीय अवनीन्द्रनाथ की पुस्तक भी देखिए।

स्वाभाविक मानवदेह में भी नाप-जोख के अनेक व्यतिक्रम देखे जाते हैं—आयु, स्वास्थ्य, जाति, प्रकृति, पहनावा आदि के भेद से। शिशु, युवा, वृद्ध; पुरुष, नारी; कृश, स्थूल, वामन, दीर्घ; आर्य, अनार्य इत्यादि। इतनी विचित्रता,

इतना असादृश्य के होने पर भी मनुष्य-मनुष्य में पेशियों और पेशीरज्जुओं की क्रियाएं और अंग-प्रत्यंग की कुल बनावट एक ही प्रकार की होती है। फलतः स्वभाव में, अतएव शिल्प में, शारीर रचना की यथार्थता अंग-प्रत्यंगों के भिन्न-भिन्न नाप-जोख पर उतना नहीं निर्भर करती है जितना—मेरुदण्ड, अस्थिसंधि, उन संधि-स्थानों के आधार पर अंग-प्रत्यंगों की स्वाभाविक गति, इन कुछ चीजों पर करती है।

अंतिम प्रश्न का उत्तर समझने के लिए ऊपर का विवेचन बहुत कुछ सहायक होगा। शारीर रचना और परिप्रेक्षित विज्ञान सम्मत नियम का लंघन करके भी प्राच्य और प्रतीच्य में उच्चकोटि के शिल्प का सर्जन हुआ है जो स्वतः प्रमाणित है; इसका कारण संक्षेप में कहा जा सकता है कि उन क्षेत्रों में विषय के साथ विषयी का अर्थात् शिल्प की विषयवस्तु के साथ शिल्पी का एकात्मबोध हो गया है; विषयवस्तु की सत्ता और जीवनछंद के सम्बन्ध में शिल्पी को सांगोपांग ज्ञान और परिपूर्ण बोध हो गया है।

छंद

रसप्रेरणा के प्रथम भावावेग में जिस छन्द का सर्जन होता है उसी को जीवनछन्द कहते हैं; जिस विशेष रस को मूर्त करना होगा। इस जीवनछन्द की भंगिमा में उसके विशेष चरित्र और गुण निहित रहते हैं। चित्र में चरम-सजीव एक ही रेखा से इसका अस्तित्व समझ में आ जाता है, इसी रेखा से ही सारे चित्र का प्रथम जीवनस्पन्दन का अनुभव किया जा सकता है। इस एक ही रेखा-अंकन मात्र से चित्र में अखंड ऐक्य और विशिष्टता निखर उठती है।

जीवनछन्द की इस आदिरेखा से फैलकर अन्यान्य रेखाओं की भंगिमा में चित्र की पटभूमि को व्यापकर एक सर्वाङ्गीण छन्द का सर्जन होता है। जीवनछन्द के मौलिक भावावेग को ही धारण करना, पोषण करना, नाना दिशाओं में नाना पथों पर प्रवाहित कर देना उसका काम है; इस छन्द के गुण से अनुकूल-प्रतिकूल नाना रेखाओं के त्रुटिहीन समन्वय से एक ऐसा आन्दोलन वा तरंग उठती है जिससे जीवनछन्द का ही सर्वत्र अनुभव किया जा सकता है।

छन्द टूट-टूटकर 'अलंकार' या कारुकार्य बनते हैं। नदी की धारा उसकी तरंगें—इसके बाद उसकी विचूर्ण सलिल समष्टि, फेनस्तवक और कीर्ण शीकरराजि जैसी होती है, यह भी वही है। इस अलंकरण के कारण छन्द का ही अंतिम झंकार मानो यहाँ वहाँ बजता रहता है। उत्कृष्ट शिलसर्जन का यह भी एक लक्षण है, यह भी होना चाहिए।

शिल्पसर्जन का मूलसूत्र

श्रद्धा, अनुराग, आकर्षण, वैचित्र्य के बीच ऐक्य और सामंजस्य का बोध, ये ही शिल्प सर्जन की प्रारंभिक बातें हैं।

सर्जन अनुराग के रास्ते होता है, उसकी साधना अनुराग को ही आधार बनाती है। अनुराग पहिले, विचार विश्लेषण बाद में।

महाप्राण प्रत्येक रूप में छन्दित हो रहा है, इस उपलब्धि के सिवा शिल्प सर्जन का कोई दूसरा कारण नहीं।

संसार में इस सर्जन का छन्द अथक गति से चल रहा है; सर्जन की यह लीला जिसमें अन्तहीन और अव्याहत रहे इसके लिए प्रकृति ने मानो अपनी बाधा स्वयं ही पैदा की है; दूसरी ओर वह भिन्न को अभिन्न का मंत्र दे रही है।

प्रकृति द्वारा सर्जित विभिन्न वस्तुओं के रूप एवं वे सारे रूप हमारे मन में जिन विचित्र भावों और रसों को उत्पन्न करते हैं शिल्पी उन्हें भिन्न-भिन्न आशयों में भिन्न-भिन्न करण (tool) उपकरण (material) और कौशल (technique) की सहायता से प्रकट करता है।

शिल्पी वस्तु के रूप को सजग होकर देखता है। अर्थात्, अपनी सत्ता और अपने गुणों को वह जानता है, अपने को वस्तु के साथ एकीभूत करना और वस्तु से अलग करना, इन दोनों प्रकार की क्षमता वह रखता है।

शिल्पी वस्तु को गुण सहित देखता है। साधारण लोग वस्तु का रूप अन्य मनस्क मन से देखते हैं, इसलिए उसके गुणों की ओर विशेष ध्यान नहीं देते हैं— रूप-रूप में अन्तर मात्र को देखते हैं; अथवा रूप-गुण के सम्बन्ध को ठीक-ठीक नहीं जानने के कारण कभी स्थूल रूप के प्रति कभी विच्छिन्न गुण के प्रति अत्यधिक आकर्षित हो जाता है। शिल्पी जानता है कि वास्तव में रूप और गुण में अन्तर नहीं है; रूप का सारा ही गुण है और गुण के

कारण ही रूप है। शिल्पी के लिए किसी एक विशेष गुण से आकृष्ट होना ही मुख्य बात है। एकदम, एक क्षण में, वस्तु के सारे गुणों की धारणा किसी भी मनुष्य के लिए स्वाभाविक नहीं है। शिल्पी भी पहले बाहरी रूप से खींचता है, बाद में गुण की धारणा होती है। इस आकर्षण का कारण नहीं बताया जा सकता; मुण्डे मुण्डे वह भिन्न-भिन्न है।

बाहरी रूप से वह गुण पर पहुँचता है, गुण को समझकर जब रूप पर फिर लौट आता है तभी शिल्प का रूप शिल्पी के सामने निर्दिष्ट और परिस्फुट हो उठता है। शिल्पसर्जन के क्षेत्र में निरंतर बाहरी रूप में रूपान्तर होता है, किन्तु रूप को सम्पूर्ण रूप से छोड़कर गुण का कोई चित्र वा मूर्ति नहीं हो सकती है। अवच्छिन्न (abstract) गुण की धारणा विचार विश्लेषण के काम में आती है और शिल्पी के ध्यान-ज्ञान के अधिगत होने पर उसके काम में भी विशेष दृढ़ता लाती है। अनेक शिल्पी विच्छिन्न गुण के सूक्ष्म वा अपरोक्ष अनुभव (intuition) से विशेष रूप की कल्पना करते हैं, विशेष गुण पर झुकाव होने के कारण अनजाने ही, अपने आप ही, रूप बदल जाता है—बनावट के नाप-जोख में कमीबेशी हो जाती है।

यह अन्यत्र कहा है कि स्वकीयता (Originality) स्वभाव (Nature), परम्परा (Tradition), इन तीनों के आधार पर शिल्प की साधना होती है।

पहिले स्वकीयता की बात लें। सर्जन करने के लिए स्वतः सिद्ध भावावेग होना चाहिए, शिल्पसर्जन के मामले में उसीकी पन्द्रह आने आवश्यकता है; बाकी एक आने को शिक्षा और साधना से अर्जन करना संभव है। स्वकीयता की उत्पत्ति अपने-अपने व्यक्तित्व से होता है। व्यक्तित्व सभी में है। लेकिन अज्ञ के व्यक्तित्व और विज्ञ के व्यक्तित्व में बहुत अन्तर है। अज्ञ के व्यक्तित्व में क्षुद्र अहंकार, अन्धता, संकीर्णता, कट्टरता, निरर्थक जटिलता, यही प्रकट होना चाहती है; अतएव व्यक्त करने में स्वच्छता को हानि पहुँचती है, यथार्थ अभिव्यंजना में बाधा पड़ती है। विज्ञ के व्यक्तित्व में समता उदारता भी आदिगुणों की सहकारिता से क्षुद्र अहंकार क्षुद्रता को खोते रहते हैं और

व्यक्ति तथा वस्तु मात्र में सहानुभूति और प्रीति क्रमशः बढ़ती रहने के कारण शिल्पी के सर्जन में अभिव्यंजना अबाध सहज और स्वच्छ होती है।

संक्षेप में, जिस शिल्पी में रसबोध नहीं है व्यवहारतः उसमें स्वकीयता भी नहीं; रसबोध का उत्कर्ष—साधन करने पाने पर ही शिल्पी की स्वकीयता पुष्ट होती है।

रसबोध का उत्कर्ष कैसे होता है यही इसके आगे की बात है, शिक्षा और साधना की बात है। स्वभाव के सम्मुखीन होकर उसका यत्नपूर्वक और सांगोपांग अनुशीलन (Study) आवश्यक है। जिसमें स्वकीयता है, प्रतिभा है, अगर वह स्वभाव का अनुशील नहीं करता है तो क्रमशः उसका काम भी एकांगी और शुष्क हो जाने के लिए बाध्य है। क्योंकि, स्वभाव में सजीवता और अनन्त विचित्रता है; उससे शिल्पी की सृजनचेष्टा को नित्यनूतन गति मिलती है। स्वभाव के अन्तहीन रूपवैचित्र्य के अन्तराल में नियम की एकता भी है; अनुशीलन के फलस्वरूप शिल्पी स्वयं ही जिन मूलसूत्रों का आविष्कार करने में समर्थ होता है, उससे उसकी रचना को दृढ़ता और विशिष्टता मिलती है।

शिक्षा और साधना के लिए परम्परा का अनुशीलन भी अपरिहार्य है। पहिले अपने देश के और फिर दूसरे देशों के शिल्पीगण जो काम कर तभी गए हैं श्रद्धा के साथ, निष्ठा के साथ उसका अनुशीलन करना चाहिए। शिल्पी की अविकसित प्रतिभा खिल उठेगी। उनकी प्रकाशरीति और कौशल से, पद्धति से, तुलना करके क्रमशः स्पष्टता और उत्कर्ष का अर्जन किया जा सकेगा।

शिल्पसर्जन की अनन्य पद्धति नाम की कोई चीज नहीं है। काम चलाने के लिए पहिले एक पद्धति का सहारा लेना पड़ता है। सर्जन के मूलतत्त्व को एकबार जान लेने और पा जाने पर तब भिन्न-भिन्न पद्धतियों पर विचार करके, प्रयोग करके, अपनी ही पद्धति को सचल सरल और दृढ़ किया जा सकता है।

शिल्प प्रसंग

शिल्पवस्तु किसे कहते हैं ?

शिल्प कल्पना है, रेखा, रंग, रूप से रसानुभूति की व्यंजना है। रस का उद्रेक करने में ही उसकी सार्थकता है। व्यंजना के लिए करणकौशल की आवश्यकता है; वह उपाय है उद्देश्य नहीं; करणकौशल का ज्ञान शिल्प की प्रेरणा नहीं है। शिल्पी के काम में रस की ही प्रेरणा से रूप का एक सजीव छन्द सृजित होता है और विशेष रूप का विशेष छन्द विश्वव्यापी जीवन के छन्द में मिलित और समन्वित होता है। इसे समवेदना कहा जा सकता है। इस समवेदना के फलस्वरूप शिल्पी अपने ध्यान की वस्तु, अपनी व्यंजना के विषय के साथ एकात्म हो जाता है, शिल्प के अन्दर शिल्पी को भी अमरता मिलती है। शिल्पी का जीवन, शिल्पी की सत्ता, शिल्प के स्वच्छ आईने में प्रतिभासित होती है, दोनों को अलग नहीं किया जा सकता है।

शिल्प सृजन है। स्वभाव का अनुकरण नहीं है। बाहरी स्वभाव में सर्जन का जो भावावेग निरन्तर क्रियाशील है शिल्पी के स्वभाव में भी उसकी प्रेरणा है, उसीकी क्रिया है; अतएव, अनुकरण की बात नहीं उठती है। शिल्प शिल्पी का ध्यान वा 'चिन्ता' है; दूसरे के ध्यान में वा 'चिन्ता' में संचारित होने के लिए उसे संहत (घनीभूत) रूप लेना पड़ता है। अनेक उपायों से अनेक चीज़ें जन-जन में संचारित होती है; रस का संचार एकमात्र शिल्प की भाषा है।

शिल्प छन्द है। भाव, अनुभूति, रूप, रंग, गति के छन्दित होने पर ही नन्दनीयता (aesthetic value) प्राप्त होती है; रस का सुष्ठुतम व्यंजना छन्द में होती है। शिल्पसर्जन में उद्देश्य, उपाय और उपकरण जब एकही छन्द में ग्रथित होते हैं तभी शक्ति का कोई अपव्यय नहीं हो सकता है।

आलंकारिकों की भाषा में कहा जाय तो शिल्प ध्वनि वा व्यंजना है। थोड़ा सा रूप, थोड़ा सा रंग, थोड़ी सी रेखाएँ, इन्हीं से, इशारे से बहुत सी भावनाओं और वेदनाओं का अनुषङ्ग जगा देना उसका काम है।

परिप्रेक्षित किसे कहते हैं? चित्रशिल्प में उसकी कौन सी उपयोगिता है?

'दृश्यमान विषय के विभिन्न अंशों की जिस प्रकार दूरत्व, निकटत्व, घनत्व आदि का बोध होता है चित्र में उसी प्रकार व्यंजना'[1] परिप्रेक्षित नाम से परिचित है। व्याख्या के तौर पर कहा जा सकता है कि चित्रकार के लिए यह जानना आवश्यक है कि एकही आयतन की दो चीजों में निकटवाली बड़ी और दूरवाली छोटी दिखाई पड़ती है। चित्र बनाने के समय इस बात को भूलने से आँख के अभ्यास को गुमराह करना होगा वा चाक्षुष परिप्रेक्षित का नियम तोड़ना होगा। लेकिन इसे भी तो याद रखना चाहिए कि चित्र केवल आँखों का देखना ही नहीं है। मन के देखने से दूर की वस्तु भी निकट आ सकती है; निकट की वस्तु का भी दूर जाकर छोटा होना वा लुप्त होना विचित्र नहीं है। निकट और दूरी में कोई निश्चित मान मन के अन्दर नहीं है। प्राच्य शिल्पी जानकर वा अनजाने ही इस बात को मानता है, इसीलिए प्राच्य चित्रकला में चाक्षुष वा स्वाभाविक परिप्रेक्षित के नष्ट होने पर सर्वदा ही रससर्जन वा छन्द सर्जन को हानि पहुँचेगी इस बात को नहीं मानते। शिल्पी की आँखें तो शिल्पी नहीं हैं, मन ही शिल्पी है। शिल्प का रसास्वादन भी आँखों से नहीं मन से होता है।

हमने एक वृक्ष को देख कर भी नहीं देखा। शिल्पी की तूलिका में जैसे ही उसे रूप मिला वैसे ही उसका गूढ़ सौंदर्य प्रकट होकर मन को जोरों से अकर्षित किया—ऐसा क्यों होता है?

---

[1]राजेश्वर वसु कृत 'चलन्तिका' कोश देखिए। याद रखना चाहिए कि दृश्यमान जगत् में लम्बाई, चौड़ाई और गहराई है, किन्तु चित्र के आधार में केवल लम्बाई और चौड़ाई होती है अर्थात् वह समतल होता है।

शिल्पी तो स्वभाव का ज्यों का त्यों अनुकरण करता नहीं । शिल्प के विषय में वह कुछ जोड़ता है, उससे कुछ घटाता भी है, रूप में कुछ ऐसा रूपान्तर उपस्थित कर देता है जिससे वह दर्शक के चित्त में नूतनता की चका-चौंध पैदा कर देता है ।

यह तो जानी ही हुई बात है कि एक ही वस्तु को एक ही समय सभी दिशाओं से, सभी भावों से देखना संभव नहीं है और उसी वस्तु के सभी पक्ष वा सभी भाव मन को बराबर आकर्षित नहीं करेंगे । पाँच शिल्पी अगर एकही वृक्ष का चित्र बनाएँ तो पाँच तरह के पाँच चित्र होंगे कोई देखेगा और दिखावेगा उसके पत्ते हरे हैं, कोई उसके पत्तों का हिलना, कोई उसके फूलों की बहार, कोई उस पर धूपछाँह का चमत्कार । कोई उन पर विशेष ध्यान न देकर देखेगा और दिखावेगा—वृक्ष मानों संन्यासी है, शून्य आकाश के नीचे ध्यानमग्न है ।

शिल्प को समझने के लिए शिल्पवस्तु को देखना होगा । देखना कैसे चाहिए ?

शिशु की आँखें लेकर शिल्पवस्तु को देखना चाहिए । अर्थात्, पहिले से ही मन को किसी संस्कार वा किसी अभिमत में बाँध रखने से काम नहीं चलेगा; केवल विचार करके, विश्लेषण करके शिल्प को समझा नहीं जा सकेगा ।

शिल्प के क्षेत्र में भिन्न-भिन्न जातियों की क्या देन है ?

चीनियों ने निसर्गचित्र वा लैण्डस्केप का अवलम्बन करके आत्मिक उपलब्धि और आत्मिक भावावेग की व्यंजना में अतुलनीय सिद्धि प्राप्त की है ।

यूरोप में स्वभावानुगत प्रतिकृति वा पोर्ट्रेट की रचना का चरम उत्कर्ष देखने में आता है ।

भारतीय शिल्पपद्धति ने मानव वा मानवेतर जीवों के रूप को प्रतीक मानकर गंभीर अध्यात्म अनुभव को भाषा प्रदान की है । भारत और चीन की शिल्प संस्कृति में यह अंतर है कि चीनी शिल्पी ने अपने को स्वभाव के

अंगीभूत करके स्वभाव के अन्दर ही अपने को खो दिया है और भारतीय शिल्पी ने अपने को और स्वभाव को एक ही छन्द में छन्दित जानकर स्वभाव को अपनी ही सत्ता की एक और व्यंजना वा परिचय के रूप में जाना है।

बुद्ध मूर्ति का तात्पर्य क्या है ?

बुद्ध मूर्ति घनीभूत ध्यान की ही मूर्ति है, व्यक्ति विशेष की मूर्ति नहीं है। एक विशेष प्रकार का भाव वा उपलब्धि एक विशेष प्रकार की मूर्ति वा टाईप का निर्माण करना चाहती है, उसके सर्वांगसुन्दर होने पर उस पथ पर फिर पैर नहीं रखा जा सकता है। बुद्ध मूर्ति इसी प्रकार की एक त्रुटिहीन सर्जन है।

नटराज इसी प्रकार की एक और सर्जना है। समग्र संसार को लेकर जो छन्द वा जो गति एक शान्ति के केन्द्र से फैलकर वहीं बारबार आ रही है, उसी की मूर्ति है।

बुद्ध मूर्ति में समस्त गति सतत शान्ति में ही अन्तर्हित होकर निश्चल चेतना के रूप में है—निर्वात निष्कम्प निधूम दीप-शिखा उसकी उपमा है।

चेतावनी के लिए एक बात कहना आवश्यक है। शिल्प का जो आत्मिक वा आध्यात्मिक तात्पर्य है उससे लौकिक आचार धर्म वा नीति धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। शान्ति समता और चेतना के प्रसार के अनुभूत और प्रकाशित होने ही से हो गया।

मिट्टी की गुड़िया, वीरभूम

शिल्प संगति

शरीर में स्थूल और सूक्ष्म जो कई इन्द्रियाँ हैं उनका अवलम्बन करके संगीत काव्य चित्र भास्कर्य स्थापत्य नृत्य अभिनय कारु इत्यादि चौसठ कला बनी हैं। एक दूसरे पर निर्भर करके अपने को प्रकट करने में समर्थ होती है। प्रत्येक इन्द्रिय से चित्त 'रस' की ही उपलब्धि कर रहा है और प्रत्येक शिल्प के साथ उसी 'रस' को ही साकार और सुगोचर बना रहा है, मर्मगत इस रस की दृष्टि से संगीत, काव्य, चित्र, भास्कर्य—किसी भी शिल्प से किसी शिल्प में अन्तर नहीं। और, यह भी याद रखने की बात है कि समुदय शिल्पकलाएँ रूप की दृष्टि से सुनिर्दिष्ट हैं, किन्तु व्यंजना की दृष्टि से अपरिसीम, अनिर्वचनीय हैं।

उपाय और उपकरण की भिन्नता के कारण काव्य और चित्र के बहिरंग में कुछ-कुछ अन्तर दिखाई पड़ता है। जैसे, काव्य में पहिले आता है संकेत-वृत्त, tree वा विटपः, इस प्रकार का एक शब्द प्रतीक; बाद में वस्तु का बोध। चित्र में पहिले ही आता है वस्तु; रंग और रेखा के भाषायोग से वह चित्र का विषय बनता है। इसके बाद कविता का वृत्त और चित्र का वृत्त, कोई भी वृत्त के तौर पर स्थिर नहीं रहता, अपनी-अपनी व्यंजना द्वारा रसिकों के मन को रस की ओर प्रेरित करता है।

बहुतेरे समझते हैं कि चित्र एक क्षण (moment, unit of time) को लेकर होता है और कविता गाने बहुत से क्षणों के प्रवाह हैं। गहराई में जाकर देखने पर समझ में आ जायगा कि बात आंशिक रूप में ही सत्य है। आँखें खोलते ही चित्र पूरी तरह दिखाई पड़ जाता है सही, पर इससे उसी दम उसका उपयोग सम्पूर्ण नहीं हो जाता है, चित्र में अंकित वृत्त, फूल, पत्ते—छोटे-मोटे प्रत्येक विषय और प्रत्येक कलाकौशल को घूम-घूम कर देखना पड़ता है। इस प्रकार जिसे एक क्षण में आँखों के सामने देखा उसीको

अनगिनित क्षणों में टुकड़े-टुकड़े करके तब कहीं एक क्षण के रहस्य पर पहुँच सकते हैं, और, कविता तथा गाने में वास्तव में बहुत से क्षण नहीं हैं। उनमें सभी खण्ड-खण्ड क्षणों का अनुसरण करके जब तक एक अखण्ड क्षण की धारणा पर पहुँचते हैं तब तक कविता वा गाने को नहीं पाया है। कविता वा गाने की सूचना में वह अनन्य क्षण आभास में है, परिणाम में है निश्चित उपलब्धि के रूप में। अतएव, देखने और सुनने के शिल्प में इस विषय में भी वास्तव में अन्तर नहीं है।

शिल्पक्षेत्र में एक इन्द्रियगोचर वस्तु को एक दूसरी इन्द्रियगोचर वस्तु बना देना, शिल्प का एक विशेष कौशल है। सुर वा शब्द से रूप का आभास पाने पर गायक वा कवि विशेष रूप से आनन्दित होता है—जब प्रातः वा संध्या वा घनघटा की छाप छन्द और सुर के गुणों से निखर उठती है। दूसरी ओर शिल्पी की इच्छा होती है कि अपने अंकित फूल में फूल की कोमलता का स्पर्श और मीठी सुगंध का अनुभव किया जा सके। ऐसा ही होता है। और इसीलिए पहिले कहा है कि चौंसठ कलाएँ एक दूसरे का अवलम्बन करके अपने को प्रकट कर पाती हैं।

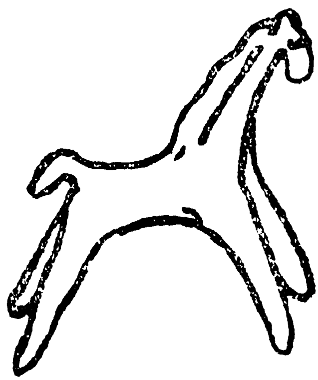
गुड़िया घोड़ा, बीरभूम

श्रीकृष्ण की रासलीला से तुलना करने पर समझ में आता है कि समग्र सृजन किस प्रकार से चल रहा है। बीच में रसघन मूर्त्ति श्रीकृष्ण सप्रकाशा परोप्रकृति को लेकर विराजमान हैं। उनके चारों ओर भिन्न-भिन्न शिल्प भिन्न-भिन्न रसों के हाथों को पकड़कर, बहुकृष्ण और बहुगोपियों के रूप में, मंडलाकार में घूम-घूमकर छन्द, ताल से नाच रहे हैं।

शिल्प दृष्टि[1]

प्राचीनकाल में विद्यार्थी पहिले घोर परिश्रम करके व्याकरण कंठस्थ करते थे; इसके बाद अलंकार और काव्य पर उनका अधिकार होता था। अर्थात्, पहिले परिश्रम, फिर आनन्द। लेकिन हम लोगों ने काव्य और व्याकरण एक ही साथ पढ़ाने की व्यवस्था की है। आज के युग में आनन्द पहिले, परिश्रम बाद में आता है। आनन्द ही परिश्रम के लिए शक्ति जुटाएगा।

रूपरचना में इतना परिश्रम क्यों लगता है? साधारणतः, हमारे मन के सामने मानो एक चिक पड़ा रहता है; उसे हटा न पाने से वस्तु को यथार्थ में देखा नहीं जा सकता और बिना देखे अंकन भी नहीं किया जा सकता। लम्बी अवधि के अनुराग और अभ्यास से कोई विशेष प्रतिभाशाली शिल्पी शायद इस दशा को प्राप्त होता है कि जब जिस वस्तु की ओर देखता है, आँखों के सामने से वह पर्दा हट जाता है, वस्तु का एक न एक पक्ष उनकी आँखों की पकड़ में आ जाता है। इसलिए रूपरचना उनके लिए बहुत ही सहज होता है। हमारे लिए भी होगा अनुराग और अभ्यास चाहिए।

ध्यान के विषय को लिए विद्यार्थी सारा समय रास्ते के किनारे खड़ा हुआ है निष्पत्र महानीम की ऊपर जाने वाली शाखाओं प्रशाखाओं में सोने के दानों की भाँति फलों के गुच्छे लगे हुए हैं।

तुम आज जो इस वृक्ष की आराधना कर रहे हो, चित्र बना रहे हो, अगर सचमुच ही यह अच्छा लग जाता है तो यह तुम्हारे सारे जीवन के लिए संचित होता जा रहा है। जीवन में कभी शायद अशेष दुःख पाओगे, प्रियजनों को खोना पड़ेगा, संसार शून्य लगेगा, तब रास्ते के किनारे

---

[1] मौखिक उक्तियों का अनुलेखन।

से यह वृक्ष कहेगा, यहाँ मैं हूँ। तुम्हें सांत्वना मिलेगी। यह तुम्हारा अक्षय संचय है केवल इसी जीवन के लिए ही नहीं—जन्मान्तर के लिए भी।

किसी विद्यार्थी को बनपुलक का पेड़ बनाने के लिए कहा गया और साथ ही समझाया भी गया।

पहिले कुछ समय तक वृक्ष को देखो। वृक्ष के निकट जाकर बैठे रहना—सबेरे, दोपहर को, संध्या को, और निस्तब्ध रात्रि में। यह काम बहुत सहज नहीं होगा। कुछ देर बैठने के बाद आगे अच्छा नहीं लगेगा। वृक्ष भी मानों झुँझला कर कह रहा है, 'तू यहाँ क्यों ?'—चला जा ! जा कहता हूँ। तब वृक्ष से तुम्हें अनुनय-विनय करना होगा। कहना होगा, 'मेरे गुरु का आदेश है, टाला नहीं जा सकता; तुम गुस्सा मत हो, मेरे प्रति प्रसन्न हो जाओ; मेरे निकट तुम अपना स्वरूप प्रकट करो।' इस तरह कुछ दिनों तक नीरव साधना करने के बाद जब लगेगा कि वृक्ष को देख लिया है, तब घर आकर दरवाज़ा बन्द करके वृक्ष का एक चित्र तैयार करो।

वृक्ष की कोई एक चीज़ पहिले अच्छी लगनी चाहिए; तभी तो वृक्ष को देखोगे, तभी तो तुम्हारा देखना क्रमशः सार्थक हो उठेगा। अच्छा लगने की साधना ही शिल्पसाधना है। किन्तु पहली बात है, अच्छा लगना विधिदत्त वस्तु है; जिसमें है वही कलाकार है, दूसरे तुम्हें कैसे दे सकते हैं ? अवनी बाबू कहा करते थे : गुरु कलाकार नहीं बनाता, शिष्य कलाकार बनकर ही आता है। जिस प्रकार आलोक हवा जल से यत्नपूर्वक पौधे को बड़ा किया जाता है। पौधे को कौन बना सकता है ?

एक जगह रहते-रहते क्रमशः अच्छा लगता है। विचित्र सम्बन्धसूत्र अच्छा लगता है। देखा गया कि, बनपुलकवृक्ष आकाश के नीचे कैसा खड़ा हुआ है; वैसे ही अच्छा लगा अथवा देखा गया कि उसमें फूल फूले हैं; इसीलिए अच्छा लगा। फूल झड़ रहे हैं; वह भी शायद अच्छा लगा। नीरी वस्तु तो मन को नहीं छूती है, कोई एक कारण होना चाहिए। मन अच्छा है शायद इसीलिए अच्छा लगा, नहीं तो वृक्ष की भंगिमा बनावट शाखाएँ पत्तों के छन्द और रंग सुन्दर होने के कारण मन प्रसन्न हुआ।

कागज का गुलाब सर्वदा जैसा था वैसा ही है : कब तक अच्छा लगे ? असल गुलाब सारे संसार के संग निरंतर एक के बाद दूसरा सम्बन्ध स्थापित करना चाह रहा है। चलने का वह छन्द ही उसका जीवन है। वह बहुरूपिया जीवन ठीक-ठीक देखा गया तो वह कभी समाप्त नहीं होता; इसलिए कलाकार का अच्छा लगना भी कभी भी समाप्त नहीं होता।

हाँ, कागज का गुलाब भी विशेष पारिपार्श्विक में अच्छा लग सकता है, विशेष स्मृति में घुलमिल कर। तब वह भी शिल्प का विषय बन जायगा।

असल बात यह है कि जिस चीज़ का चित्र बनाओगे वह अच्छी लगनी चाहिए। उसे तुम्हारा मन हरण करना चाहिए। तब वह अच्छा लगना तूलिका की नोक पर अपने-आप निखर उठेगी। तभी यथार्थ में चित्र बनेगा। चित्र बनाने का यही सब से बड़ा, सब से गूढ़ कौशल है।

मन को रस न मिलने से, अच्छा न लगने से, अच्छा लगना दिनों-दिन न बढ़ने से, उस अच्छा लगने की ही प्रेरणा से काम न करने से, केवल कला-कौशल को आयत्त करने की चेष्टा बेकार है।...एक बार मुझे इसराज बजाने का शौक हुआ था; नियमित रूप से सा-रे-गा-मा साधने लगा। कुछ गत भी सीखे थे। किन्तु जैसे ही बजाना बन्द किया ६ महीने की सिखाई एकदम भूलने में मुझे ६ दिन भी नहीं लगे। क्योंकि, संगीत का केवल व्याकरण ही 'रटा' था, रस के अन्दर प्रवेश नहीं किया था।

अनुराग चाहिए, धैर्य भी चाहिए; साधना की सफलता भी चाहिए। शिल्पचर्या एक साधना ही है, शौक नहीं है।..नहीं तो कितने हैं जो उस अमरीकी साहब की तरह करते हैं। वह सज्जन आए थे सात समुद्र तेरह नदी पार करके महात्माजी के आश्रम में उनसे मुलाकात करने। आश्रम के लोगों ने कहा, 'इस समय उन्हें फुर्सत नहीं है; तुम एक-दो दिन ठहर जाओ।' किन्तु, साहब कैसे ठहरते ? किसके बाद क्या करेंगे सब क्रम बंधा हुआ है; अगली गाड़ी उन्हें पकड़नी ही चाहिए। इसलिए महात्माजी से मुलाकात किए बिना ही चले गये। इसे मूढ़ता कहते हैं। और, मुलाकात होने से ही क्या लाभ

होता कौन जानता है ! शायद स्वाक्षर पुस्तिका में एक हस्ताक्षर और जुड़ जायगा, इससे बढ़कर उसकी कोई आकांक्षा ही नहीं थी।

नित्य अभ्यास करना चाहिए। निरन्तर परीक्षा करनी चाहिए। भय और लोभ का वर्जन करना चाहिए। शिल्पी जितना अनुभव करेगा उसे उतना ही प्रकट करना चाहिए।

कवियों में कभी-कभी ऐसा होता है कि अप्रासंगिक किसी शब्द वा उपमा का मोह वा किसी कल्पना का मोह उस पर छा गया। उसी तरह शिल्पी ने कदाचित् देखा कि पेड़ के नीचे एक आदमी बैठा हुआ है; अच्छा लगा; इसके बाद चित्र बनाने के समय एक झोपड़ी उसके साथ जोड़ दी या पेड़ के पत्तों को सँभाल-सँभाल कर बनाया वा आकाश के बादलों में रंग का बहार दिखाने गया; वह लक्ष्य भ्रष्ट हो गया। फलस्वरूप चित्र नष्ट हो गया। इसी को लोभ वा मोह कहते हैं। पहिले की कल्पना के संग नई कल्पना का जोड़ नहीं मिला, इसीलिए चित्र नष्ट हुआ।

परम्परागत आदर्श का प्रयोजन क्या है ?—अगर सारी परम्पराएं किसी आकस्मिक दुर्घटना से लुप्त हो जायं, तो क्या शिल्पकला सदा के लिए लुप्त हो जायगी ? शिल्प का कारण आदि कारणों में है। जिस आनन्द से सौर जगत और पृथिवी की सृष्टि हुई है, वही आनन्द शिल्प चित्र बनाता है। अतएव महा प्रलय के बाद जिस प्रकार फिर सृष्टि होगी, फिर मनुष्य जैसे धीमान जीव का जन्म होगा, उसी प्रकार कला का भी श्री गणेश होगा।

पर परम्परागत शिल्प व्यवसाय की पूँजी की भाँति है। उसे लगाकर थोड़े से परिश्रम से और अधिक ऐश्वर्य प्राप्त करना संभव होता है।

जो कलाकार है सर्वत्र सभी उसके मित्र हैं, वह कभी निःसंग नहीं होता। तुम अच्छे लग रहे हो। तुम चले गए पेड़ अच्छा लग रहा है। पेड़ भी नहीं है तो यह दरवाजा ही अच्छा लग रहा है। अच्छा क्यों लगता है ? कहना कठिन है। पर, आवेगप्रवण अच्छा लगना वा अपनी चीज़ होने के कारण अच्छा लगने में गहराई कम होती है। कुतूहल के कारण अच्छा लगना चिरस्थायी नहीं होता। एक प्रकार का अच्छा लगना और है, वह है

गहरी एकात्मानुभूति। कोई दृश्य इतना अच्छा लगा कि उसके लिए मरना भी अच्छा लगे।...सभी गहरा आश्वासन दे रहे हैं; सभी मित्र जो हैं। एक वस्तु जिस परिमाण में अच्छी लगी उसी परिमाण में मरने का डर दूर हो गया। क्योंकि जान गया कि, मैं मर गया यह तो रह गया; वह तो मेरा ही रहना है।

चित्र दो प्रकार होते हैं। एक है, शिल्पी ने जो चित्र बनाया है, और दूसरा है शिल्पी जो चित्र बना है। अच्छे चित्र में होता है—विषय, पद्धति और शिल्पी स्वयं।

चित्र में रंग डालने के बारे में समझने की बात यह है :—धान के खेत की हरियाली तुम्हें इतनी अच्छी लगनी चाहिए कि तुम वह हरियाली बन गए। तुम्हारी सत्ता के अन्तहीन परिचय में उतना परिचय भर युक्त हुआ। इसके बाद चित्र बनाने बैठने पर कैसे हरा लगाना चाहिए, उसके साथ दूसरा कौन रंग कहां अच्छा लगेगा, अंतरंग अनुभव से तुम अनायास ही समझ जाओगे; तूलिका की नोक पर मानो आपही आ जायगी। एक बात और, आलंकारिक चित्र पद्धति में शिल्पी धान के खेत की हरियाली आकाश में भी दे सकता है, बादल में भी दे सकता है, पहाड़ में भी दे सकता है, इसमें कोई दोष नहीं होता। क्योंकि, प्रकृति से शिल्पी रंग-रंग में सूक्ष्म सम्बन्ध और संगति को सीख लेता है, जो गहरी आत्मीयता है, उसीको; नहीं तो वह स्वाधीन है, स्वतंत्र है। यह रीति प्राचीन राजपूत, मुग़ल वा पारसिक चित्रों में पायी जाती है। इससे रचना को रंचमात्र भी हानि न पहुँचकर बल्कि विशेष उत्कर्ष ही हुआ है।

जिसने पहाड़ नहीं देखा है, उसे बादल बनाने का साहस नहीं होगा। स्थिरता की धारणा न रहने से चंचलता की धारणा नहीं होती। इन्द्रिय चंचलता और चित्त की ध्यानमग्नता में जो रस है, दोनों ही को कलाकार के लिए जानना आवश्यक है। कलाकार के एक देश-दर्शी होने से काम नहीं चलता। उसे सर्वदर्शी और निर्लिप्त होना चाहिए।

कहानी है—किसी ने कहा था नवोद्गत जौ के टूँड़ देखने में वैसे ही होते हैं जैसे पंखविहीन तितली। किन्तु एक यथार्थ प्रतिभाशाली कवि ने कहा कि टूँड़ देखने में ऐसा लग रहा है मानो यदि दो डैने हों तो वह तितली की तरह उड़ जायगा। उपमा एक ही है पर देखने के ढंग और बोलने के कौशल में कितना असीम अन्तर है। था प्राणहीन, हुआ सजीव।

प्रकृति की दो धाराएँ हैं। एक में देखता हूँ रूप-रूप में अनमेल, फलस्वरूप वैचित्र्य। यह हुआ स्थूल। दूसरे में देखता हूँ यह अनमेल वा विचित्रता जो अन्तर्निहित नियम से निरन्तर उद्भूत हो रही है उसकी एकता। वैसादृश्य और वैचित्र्य के अन्दर एकता, यही प्रकृति है—विश्व प्रकृति भी और उसके अन्दर की मानव प्रकृति भी।

शिल्पी पहिले बाहरी रूप से आकृष्ट होता है। इसके बाद रूप-रूप में सम्पर्क से। इसके बाद जो भाव और जो रस प्रत्येक रूप को प्रत्येक क्षण रूपायित और संजीवित कर रहा है उस वस्तु से। इस प्रकार से शिल्पी जितना आगे बढ़ता है उसकी सृजन-क्षमता उतनी ही बढ़ती है, उसका सृजन-क्षेत्र भी उतना ही क्रमशः प्रसारित होता है।

विशेष शिल्प की विशेष भाषा वा कनूवेनूशन (Convention) वस्तु का काम है विषय को सहज करना नहीं, सम्पूर्ण करना। ज्ञान और साधना की विशेष परिणति से ही उसकी उत्पत्ति होती है। प्रकृति के सारे आवेग और इच्छाएँ, जो सर्वत्र निर्दोष भाव और अनिंद्य रूप की ओर उन्मुख होकर चल रही हैं यद्यपि तूफ़ान, धूप, ओले हैं—कीड़ों, पशुओं, मनुष्यों के सैकड़ों उपद्रव हैं—जड़ उपादान की जड़ता की बाधा है—इसीलिए ठीक से पहुँच नहीं रही हैं—दृष्टि से, प्रीति से, उसी को देखने और दिखाने में उसकी सार्थकता है।

चीनी चित्रकला और भारतीय भास्कर्य अतुलनीय हैं। क्योंकि, भारतीयों ने विषय को चारों ओर से (in the round) देखा है, उस देखने को प्रकट करने का यथार्थ क्षेत्र भास्कर्य, स्थापत्य है। किन्तु, चित्र की जमीन, लम्बाई और चौड़ाई इन दो आयतनों की होती है, इसमें विशेष देखने

की बात है दूरत्व वा स्पेस; इन दोनों आयतनों के क्षेत्र में दूरत्व की रससर्जना चीनियों के निसर्गदृश्य चित्रों में जिस प्रकार संभव हुई है अन्यत्र वह कैसे होगी ? चीनियों का चित्रांकन उनकी लिखावट जैसा ही है। इसलिए भी चित्र का समतल क्षेत्र उनके सृजन के लिए बहुत अनुकूल सिद्ध हुआ है।

ओकाकुरा ने कहा था—स्वभाव (Nature), परम्परा (Tradition) और स्वकीयता (Originality) इन तीनों को लेकर सर्वाङ्ग, सम्पूर्ण कला होती है। स्वभाव का ज्ञान न रहने से कला क्षीण और कृत्रिम होती है। परम्परा पर अधिकार नहीं रहने से गतिहीन और अधकचरा होती है। और, शिल्पी की अपनी कोई देन अगर नहीं होती है तो शेष सब कुछ रहने पर भी शिल्पी को ठीक-ठीक जीवन नहीं मिलता। दूसरी ओर केवल स्वभाव सम्मत होने से वह नकल हो जाता है; केवल परम्परा पर अधिकार रहने से कारीगरी हो जाती है; और, केवल मौलिकता के पाथेय को लेकर मनुष्य पागलों की तरह आचरण करता है।

विभिन्न वयस में मनुष्य का जीवन भिन्न-भिन्न वस्तु को केन्द्र करके चलता है। शैशव में मां; किशोरावस्था में इष्ट मित्र; युवावस्था में स्त्री वा प्रेयसी; परिणतावस्था में और-कुछ। उस केन्द्र के रहने से जीवन में स्वाद रहता है, सुख रहता है, उत्साह रहता है। केन्द्र के खो जाने से सब कुछ स्वादहीन हो जाता है; इसीलिए काम के लिए कोई प्रेरणा नहीं रहती है। अतएव जो जितनी स्थायी वस्तु को केन्द्र करके जीवन का निर्माण करता है उसके जीवन में सुख शान्ति और काम की प्रेरणा उतनी ही अशेष होती है। इस प्रकार की स्थायी वस्तु इस विश्व प्रकृति को कहा जा सकता है। यह बात जीवन में भी सच है, शिल्प में भी सच है।

नित्य नियमित साधनों से अंत में मन परिपूर्ण कलस की तरह हो जाता है। परिपूर्ण कलस को जिस प्रकार रंचमात्र टेढ़ा कर देने से जल छलक जाता है उसी प्रकार किसी कारण से मन के रंचमात्र डिगने से मन की अक्षय रसानुभूति रूपानुभूति छिलक कर बन जायगा—चित्र, मूर्ति, नृत्य, कविता, गान।

अनेक आशाओं से, उद्यम से आरंभ करके आज सोचते रहे तो कुछ भी नहीं हुआ। किन्तु, वास्तव में शायद होने में अब देर नहीं। मानलो, तुम पुरी के मन्दिर में जा रहे हो। सबेरे बहुत दूर पर देखा पेड़ों से भी ऊपर मन्दिर की चूड़ा दिखाई पड़ रही है। उत्साह से पग बढ़ाने लगे। ज्यों-ज्यों दिन चढ़ने लगा धूप और बालू की गर्मी बढ़ने लगी, भूख प्यास से कातर हो गए, किसी समय मन्दिर की चूड़ा भी निकटवर्त्ती लोगों के रहने के घर-द्वारों, पेड़ों के पीछे छिप गया। एकदम दिशाहीन हो गए। चौरास्ते पर पहुँचकर किधर जाना चाहिए यह नहीं समझ सके। फिरभी शायद प्रत्येक पग पर कुछ न कुछ आगे ही बढ़ते आए हो; जब एकदम हताश हो गए तब रास्ते के एक और मोड़ के पार करते ही वा सामने के और एक पेड़ को पार करते ही मन्दिर का खुला दरवाजा देखोगे।

शिल्पी को सदा सजग होना होगा। भागीरथी में मृणालयुक्त कमल का फूल, कमल के पत्ते लहरों की तालों पर उठते-गिरते बहे जा रहे हैं। मछली भी उसी जल में खेल रही है; इच्छानुसार धारा के अनुकूल वा प्रतिकूल जा रही है। दोनों में अन्तर है। साधारण मनुष्य और शिल्पी में वही अन्तर है।

२

रियालिटी (यथार्थ) क्या है, कुमार स्वामी ने एक संस्कृत श्लोक उद्धृत करके सकी व्याख्या की है। जहाँ अभाव का बोध नहीं रहता। अर्थात्, कला के क्षेत्र में कहा जा सकता है कि चित्र और चित्र की विषयवस्तु में मेल न रहने से भी जब अभाव का बोध नहीं होता।

चीनियों ने भी वपी बात कही है। पक्के कलाकार का काम कैसा होता है? आश्चर्यजनक ढंग से वस्तु की प्रतीति होती है, पर निकट जाकर पर्यवेक्षण करने से देखा जाता है कि स्याही के लेप, तूलिका की छाप, इसके सिवा और कुछ भी नहीं है।

चीनी इसीलिए कहते हैं कि टेकनिक शैली ही सब कुछ है और टेकनिक शैली कुछ भी नहीं। मन जब जाना चाहता है तो खींच-तान कर कहाँ से कहाँ ले

उजाता है सका कोई ठौर-ठिकाना नहीं। पक्के कलाकार की टेकनिक शैली वा सही टेकनिक शैली वैसी है जैसा कि तंत्र के एक श्लोक में कहा गया है, 'चिड़िया के उड़ने की तरह, एक पेड़ से दूसरे पर जा बैठी—हवा में कोई पथ चिह्न नहीं रहे।

किसी-किसी में यह भाव उत्पन्न हुआ है कि जो कुछ भी क्यों न बनावें उसमें प्रवेश कर सकते हैं। कैसा प्रवेश करना? तुम्हारा हाथ पकड़कर यहाँ इस तरह रख दिया, फिर उठाकर दूसरी जगह दूसरी भंगिमा में रखा, तुम्हें पकड़ कर उठाया वा बैठाया, एक यह है। और दूसरा है, तुम्हारे ही अन्दर अगर मैं प्रवेश कर जाऊँ तो तुम्हारे हाथों को लेकर, पैरों को लेकर, मैं जो चाहूँ कर सकता हूँ—उठने, बैठने, दौड़ने, नाचने किसी में कोई परिश्रम नहीं होता, बाधा नहीं पहुँचती; वह सहज भी होता है, सत्य भी होता है।

छोटे बच्चों के बनाए चित्र भी बहुत सुन्दर होते हैं; उनमें अचरज में डालनेवाले रंग और छन्द होते हैं। फिर भी छोटे बच्चे के कामों की नकल करके कलाकार नहीं बना जा सकता है। छोटे बच्चे के काम का गुण बड़े कलाकार के काम में तब आता है जब वह 'ज्ञान' कीपराकाष्ठा पर पहुँचते हैं। क्योंकि बड़ा आदमी अगर छोटे बच्चे का अनुकरण करता है तो उसे भलेमानसपन का भान करना कहेंगे, लेकिन बड़े आदमी भी छोटे बच्चे हुआ करते हैं हम जानते हैं—उसी को हम प्रतिभावान वा परमहँस कहते हैं।

एक जापानी कविता में कवि ने कहा है कि उसे चेरी फूल बनने की इच्छा होती है। मनुष्य तो चेरी फूल से बहुत बड़ा, बहुत महान होता है, तो इस तरह की विपरीत इच्छा क्यों होती है? इसका तात्पर्य है। मनुष्य मनुष्य होने के कारण ही इस प्रकार की इच्छा हुई है, चेरी फूल को मनुष्य का और कुछ बनने की इच्छा नहीं होती है। मनुष्य की भी और अनुभूति विचित्र दिशाओं में विचित्र लक्ष्य की ओर प्रसारित होती है; मनुष्य की चेतना संसार में सर्वत्र प्रवेश करना चाहती है। एक दूसरा अर्थ यह भी समझा जा सकता है कि मष्नुय मनुष्य ही रहना चाहता है यद्यपि वह चेरी फूल भी बनना चाहता है—मनुष्य की सत्ता की अनन्त जटिलता, अशेष मिश्रण,

असीम ऐश्वर्य, सब को लेकर सब को जीत कर, फूले हुए चेरी फूल की सहज शोभा वह पाना चाहता है।

भारतीय भास्कर्य बहुत बड़ी चीज है। उसमें जो कुछ किया गया है और किसी देश में किसी भी युग में वैसा नहीं हुआ। जब तक एक नटराज मूर्ति एक बुद्ध मूर्ति वा त्रिमूर्ति है तब तक भारतवासी सांस्कृतिक संसार में सिर ऊँचा रख सकता है—भारत शिल्प वा भरातीय सभ्यता इसीमें सम्पूर्ण है। उस में विमूर्त्त कल्पना को मूर्त किया गया है। स्वभाव के इसका-उसका प्रतिरूप बहुतों ने बहुत दिया है। किन्तु, एक करुणा, मैत्री वा किसी दूसरी कल्पना की मूर्ति सारे शिल्प संसार में दुर्लभ है। चिह्न वा प्रतीककी रचना नहीं की है, प्रतिमा का निर्माण किया है; अर्थात् वहाँ कल्पना का 'वाचना' कष्टकृत वा कल्पनाकृत नहीं है, रसिकों के लिये उसकी बोधव्याख्या सापेक्ष नहीं है। कल्पना ने ही जन्म लिया है, कल्पना ही मूर्ति बन गई है।

एक समय यूरोप स्वभाव का हूबहू नकल करने की ओर झुका था। कला का यह सही रास्ता नहीं है, यह अंत तक तृप्ति नहीं प्रदान कर सकता है। प्रतिक्रिया के कारण अब स्वभाव को एक दम उड़ा देने की चेष्टा हो रही है; वह भी अस्वाभाविक है; इसमें कोई रस नहीं है। सारे अनुषंगों को छोड़कर मनुष्य सोच नहीं सकता है। विज्ञान वा मनोविज्ञान के तथ्यों को लेकर क्या होगा ? यही कला का सत्य है, ऐसी बात नहीं। ......कला का विषय और कलाकार का मन, ठीक मानों मन और आलोक हैं। सूर्य की रोशनी को मिट्टी और पत्थर सोख लेते हैं, वही स्वभाव की अनुचरी कला है। कांच में आईने में, जल में, जो प्रतिफलित होती है, वही भारतीय वा प्राच्य शिल्प की श्रेणी है। इस कला ने बहुत करके अनुकरण नहीं किया है, उसे अत्यधिक ऐक्सट्रैक्ट वा अनुषंगभीरु होने की आवश्यकता नहीं। इसका सच्चा रूप और अरूप दोनों के बीच विराजमान है।

निसर्ग चित्र वा लैंडस्केप में जो रस है वह नौ रसों में कोई भी नहीं है। अधिक से अधिक शान्त रस या एकात्मता रस कह सकते हो। ऐसा लगता है कि चीनियों को यह ऋषि लाओत्से की वाणी से मिला था।

एक भूदृश्य में एक मनुष्य है। विशेषकर भूचित्र को ही बनाने का उद्देश्य हो तो मनुष्य को बनाने की चेष्टा करनी चाहिए। अगर मनुष्य को ही बनाने का इरादा है तो भूचित्र को बनाने का प्रयत्न करना ही अच्छा है। चित्र के विषय को आमने-सामने वा हठ करके आयत्त करने की चेष्टा करने से वह कन्नी काट जाती है। प्रेम की जैसी रीति है, उसी तरह उसमें टेढ़ी भंगिमा है। जिधर जाना चाहते हो उधर सीधा नहीं जाते, जो कहना चाहते हो सीधे नहीं कहते, जो कुछ चाहते हो उसे व्यंजना में सुन्दर रीति से प्रकट करते हो—संकेत से, इशारे से। इसीसे प्रेमिका और प्रेमिक दोनों प्रसन्न होते हैं, प्रेम सफल होता है, कला कहो वा प्रिया कहो, इनके विषय में हठ करना अच्छा नहीं— 'नहीं चाहने पर' ही उसे पाया जा सकता है।

भूदृश्य का चित्र केवल पेड़-पौधे हैं, बालू का टीला, जल की धारा बनाने पर हो सकता है कि वह मन के अनुकूल नहीं बना—तब कहीं दुम लटकती चिड़िया, हाथ से लाठी लिये हुए चरवाहा, मुँह लटकाकर पानी पीते हुए बन्दर, इन्हींको बना देना पड़ा; वैसे ही देखा गया कि सभी हिलडुलकर बोल उठे। जीवन से जीवन का परिचय हुआ। उदास वा सुन्दर भूदृश्य के बीच, वह चिड़िया वह चरवाहा कलाकार स्वयं ही है।

शिल्प में सिद्ध व्यक्ति कभी भूल नहीं करता। कहा जाता है : चीनी शिल्पी के पैर से स्याही की बाल्टी उलट गई, तत्काल हाथ से उसने आश्चर्यजनक ड्रैगन बना दिया।

अंकनकार के मन में जब अंकन का विषय ठीक-ठीक है तो मन से उठा कर कागज पर रख देना जैसा होता है। अथवा पर्दे को हटाते ही मानो दीख गया कि क्या है। इसके लिये जिस हाथ हथियार काल और कलाकौशल की आवश्यकता है वह होते हुए भी नहीं है; क्योंकि, उसके सम्बन्ध में मानो शिल्पी और शिल्प रसिक में कोई चेतना ही नहीं है।

तीर-धनुष लेकर कितने ही निशाना लगाते हैं, अनेक चेष्टा करके लक्ष्य-भेद किया जा सकता है; उससे लक्ष्य विद्ध हो सकता है, नहीं भी हो सकता है, और दूसरी बात, जब लक्ष्य ही तीर को चुम्बक की तरह खींच

लेता है तो किसी चेष्टा के न होने के कारण ही भ्रांति वा च्युति की कोई संभावना नहीं।

वर्त्तमान युग में और विशेषकर पाश्चात्य देशों में विज्ञान का प्रभाव शिल्प के क्षेत्र में भी दिखाई पड़ रहा है, कुछ-कुछ उसीके फलस्वरूप 'अव-चेतन' मन वा 'अति सचेतन' मनन के द्वारा एक प्रकार के शिल्प सृजन का प्रयास देखा जाता है। इस प्रकार के कामों को देखकर स्वभावतः प्रश्न उठता है कि जो केवल कुतूहल पैदा करता है, पहेली वा प्राब्लेम का आकार लेता है, वह भी शिल्प है वा नहीं। हमारी धारणा है कि शिल्प रस की व्यंजना में एक ओर जैसे अनिर्वचनीय और अपरिसीम है, वैसे ही दूसरी ओर रूप में, रेखा में, अर्थ में सुसीम, संहत और सुनिर्दिष्ट है। क्योंकि, शिल्प मनुष्य की सत्ता से विश्वसत्ता के अत्यन्त परिचय का साक्षी वा प्रतीक है। यह भी कहा जा सकता है कि शिल्प नूतन परिचय की सर्जना कर एक सर्जन की वस्तु को एक दूसरी सर्जना में उत्तीर्ण कर देता है।

किसी लड़की की बात ले लो। संसार में वह किसी की कन्या, किसी की स्त्री, किसी की सखी, किसी की मां है। प्रकृति के अन्दर और प्रकृति की दृष्टि में वह मां नहीं है, कन्या, पत्नी नहीं है, किसी भी अभिन्न सम्बन्ध से किसी से बंधी नहीं है—वह नारी मात्र है, दूसरी ओर उसी लड़की का ऐसा परिचय भी मिल सकता है कि वह मां है, उसकी गोद में बच्चा है वा कोई ऐसा स्पष्ट लक्षण है जिससे कोई दूसरी कल्पना नहीं की जा सकती है। जिस प्रकार लड़की प्रकृति में उसी प्रकार किसी की अन्तरंग अनुभूति में भी निःसंदिग्ध और निर्दिष्ट एक परिचय मिल जाता है—और तभी वह शिल्प का विषय बन जाता है। संसार में उसके नाना प्रकार के परिचय प्रतिक्षण एक दूसरे को धूमिल कर देते हैं, उसके प्रकाश को अनुज्ज्वल करते हैं और उसे भलीभाँति न पहचानने के कारण ही वह बोध और शिल्प का विषय नहीं बन पाता है। जिस लड़की को प्रति दिन देखता हूँ उसे देखता नहीं हूँ। विवाह मण्डप में वह सभी की दृष्टि आकर्षित करती है। तब देखते हैं कि वह अपूर्व है, वह अनन्य है।

पत्थर के टुकड़े को ही ले लीजिए। जब वह पत्थर के अलावा और कुछ नहीं है तब वह प्राकृतिक वस्तु मात्र है, भू-विज्ञान वा भौतिक विज्ञान के अन्तर्गत है, आँखों से देखने वा यंत्र से परीक्षा करने की वस्तु है। दूसरी ओर, यह भी हो सकता है वा कोई इस प्रकार से उसकी आंशिक रचना कर सकता है जिसमें वह कभी शिव, कभी बन्दर-सा लगता है, कभी जटायुक्त बुढ़िया लगती है। तब भी उसने कुतूहल उत्पन्न किया, जिज्ञासा उत्पन्न की, रस उत्पन्न नहीं किया। क्योंकि, किसी विशेष परिचय के सूत्र से उसे आत्मीय के रूप में नहीं जाना, उसे नाम लेकर नहीं पुकारा। शिल्पी के ग्रन्थों में पड़कर पत्थर अब पत्थर नहीं रह गया। शिल्पी ने अपने सारे हृदय से, अनुभव से, जो कुछ देखा वा देखने का आरोप किया, उससे वह पत्थर वा तो शिव होता है, वा बन्दर वा जटावाली बुढ़िया, किसी अनन्य परिचय से रसिकों के निकट परिचित हुई, रसिकों की अंतरंग हुई और शिल्प पद वाच्य हुई। तभी वह सृजन का प्रतिसृजन हुई।

पूरब की ओर हरे बन के ऊपर घने काले बादल मुझे इतने अच्छे क्यों लग रहे हैं, मन को इस प्रकार से क्यों छू रहे हैं? कारण और कुछ नहीं है—एक ही सत्ता का, एक ही चेतना का एक छोर वह बादल है और दूसरा छोर मैं हूँ।

एक ओर बादल है और दूसरी ओर मैं हूँ; इसीलिए बादल का आनन्द मुझ में अथवा मेरा दुःख बादल में संचारित हो रहा है। विषय और विषयी एक ही सत्ता है। मेरी इन्द्रियाँ, खिड़की-दरवाजा भर हैं। उसीके रास्ते मैं और मेरा विषय दोनों मिल रहे हैं, घुलमिल रहे हैं; एक ही चेतना में नाना प्रकार के आन्दोलन उठ रहे हैं, तरंगे उठ रही हैं।

कुणाल जातक में कामलोक की कथा आती है—उससे परे रूपलोक, उससे भी परे अरूपलोक है। मेरा कहना है कि उससे भी परे आनन्दलोक है। काम लोक आसक्ति है, इसीलिए अंधापन है। रूपलोक पर उठने पर रूप गोचरी-भूत हुआ। अरूपलोक में पहुँचने पर जीवन में अखिल जीवन के छन्द स्पन्दन का अनुभव हुआ। आनन्दलोक में रस है। शास्त्रों में कहा गया है, रसो वै सः।

रचना परिचय

शिक्षा में शिल्प का स्थान : फरवरी १९३६ में कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा मनाए गए शिक्षा सप्ताह के न्यू फेलोशिप की बंगीय शाखा के अधिवेशन में पठित।

शिल्प साधना : मायावती अद्वैत-आश्रम के पवित्रानन्द स्वामी और लेखक के बीच किसी वार्तालाप की अंगरेजी नकल और प्रबुद्ध भारत पत्रिका में प्रकाशित रचना के आधार पर लिखित।

शिल्प प्रसंग : रामकृष्ण-वेदान्त-आश्रम के प्रबुद्धानन्द स्वामी द्वारा लेखक से किए गए प्रश्नों और प्रबुद्ध भारत पत्रिका में अंगरेजी में प्रकाशित लेख के आधार पर लिखित।

शिल्प संगति : श्री परिमल सरकार को लिखित पत्र का अंश।

शिल्प दृष्टि : मौखिक कथन की नकल, भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न उपलक्षों पर कथित। श्रीमान् कानाई सामन्त द्वारा संकलित और लेखक द्वारा संशोधित।

अधिकांश रचनाएँ भिन्न-भिन्न समय पर—विचित्रा, प्रवासी, विश्व भारती पत्रिका, देश और शारदीया आनन्द बाजार पत्रिका में प्रकाशित।